आचार्य नागार्जुन कृत

रत्नावली

(हिन्दी अनुवाद सहित)

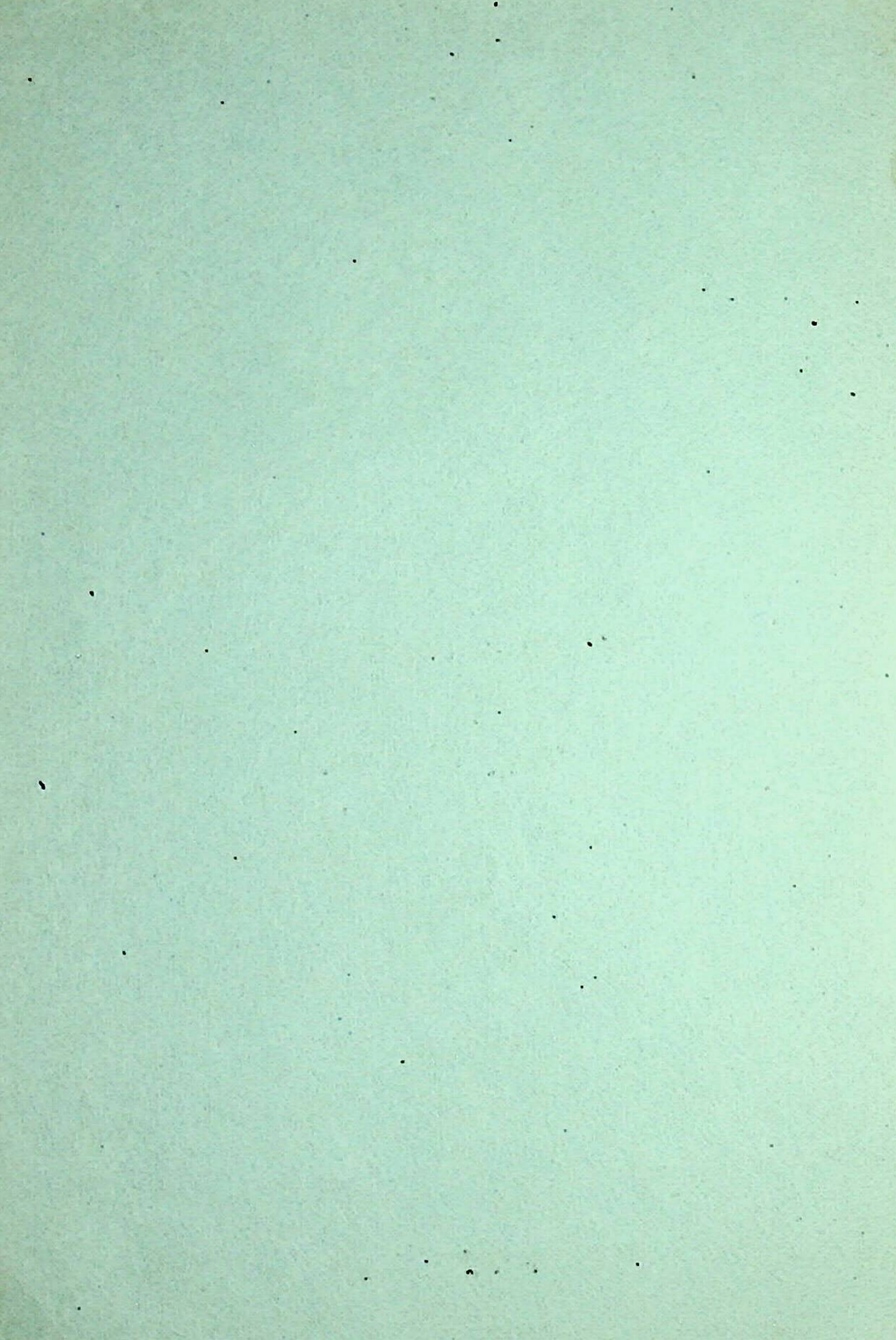
डॉ० चन्द्रनारायण मिश्र

एवं

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

तारा प्रिंटिंग वर्क्स

वाराणसी



आचार्य नागार्जुन कृत

रत्नावली

(हिन्दी अनुवाद सहित)

डॉ० चन्द्रनारायण मिश्र
स्नातकोत्तर, दर्शन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी
एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्०, न्याय व्याकरण
साहित्य वेदान्ताचार्य, मीमांसाशास्त्री

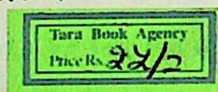
संकायाध्यक्ष, दर्शन संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

प्रकाशक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी-२२१०१०

प्राप्तिस्थान
तारा बुक एजेंसी
कमच्छा, वाराणसी

प्रथम संस्करण

मूल्य : 

त्र)

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

रत्नावली

भूमिका

(१)

१९वीं सदी के अन्तिम पाद से लेकर २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक का समय भारतीय संस्कृति के तत्त्वों के अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण समय कहा जा सकता है। इसी अवधि में भारत को फिर से अपनी उन अमूल्य निधियों का पता चला जो उसकी दृष्टि से तिरोहित हो चुकी थीं। वैदिक संस्कृति के ग्रन्थों का कभी भी भारत की भूमि से आमूल लोप नहीं हुआ, इसलिए सामान्य रूप से उसके ग्रन्थ परम्परया सुरक्षित रहे। परन्तु बारहवीं सदी में अनेक कारणों के सम्मिलित आघात को सहन नहीं कर बौद्धधर्म अ.र दर्शन को भारत के बाहर केवल उत्तरी देशों में ही शरण मिली। भारत से वस्तुतः बौद्धधर्म का लोप हो गया। ऐसी स्थिति में बौद्ध-विचार का परिचय केवल प्रतिपक्षियों के कथन के आधार पर ही प्राप्त कर सन्तोष करना पड़ता था। जो भी कुछ उद्धृत अंश यत्र-तत्र उपलब्ध होते थे वे आंशिकता अथवा मूल के विपर्यस्त रूप के कारण यथार्थ मत का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। यह स्थिति तब तक बनी रही जब तक बौद्ध-दर्शन के मूलग्रन्थ भारत में उपलब्ध नहीं हो पाए थे। जब पाश्चात्य मनीषियों की अभिरुचि बौद्ध दर्शन में हुई तो उनके प्रयासों से नेपाल, तिब्बत और चीन से बहुत-से दुर्लभ

ग्रन्थों को मँगाकर उन्हें प्रकाशित किया गया। इस पुण्यकार्य में अनेक भारतीय विद्वानों का भी निश्चित सहयोग था। महायान के सारे ग्रन्थ संकर-संस्कृत या शुद्ध संस्कृत में थे। जिस कठिन अध्ययन, मनन, अनुशीलन और शोध के बाद उनमें से बहुतेरे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद किया गया उसके लिए आज की पीढ़ी को उनका ऋणी होना स्वाभाविक ही है।

अंग्रेजी शासन का अन्त होते होते उपर्युक्त प्रवृत्ति में बहुत शिथिलता आ गई। उसके बाद से न तो कोई प्राचीन ग्रन्थ प्रकाश में आ रहा है और न जो ग्रन्थ प्रकाश में लाए जा चुके थे उनका अनुवाद ही हो रहा है। वैसे लोगों की संख्या अब दिन दूनी रात चौगुनी कम होती जा रही है जो उन ग्रन्थों का सफल अनुवाद कर सकते हैं। आज की स्थिति यह है कि सरकार द्वारा संस्कृत शिक्षा पर पूर्ण व्यय करते हुए भी अनियोजित पद्धति के कारण संस्कृत की कोई वास्तविक उन्नति नहीं हो पा रही है। जो व्यक्ति संस्कृत का ज्ञाता भी होता है उसका सम्बन्ध इसके व्याकरण और काव्यपक्ष से रहता है। इसलिए संस्कृत-साहित्य के दार्शनिक पक्ष के ग्रन्थों से उसका कोई सम्पर्क नहीं रहता है। जो दर्शन का विद्यार्थी होता, उसे संस्कृत का ज्ञान नहीं रहता; अतः उसके लिए संस्कृत के मूल-ग्रन्थों का परिचय केवल उनके अनुवाद के माध्यम से होता है। आज के शोधकर्त्ताओं के लिए एक और कठिनता यह है कि वे अंग्रेजी अनुवाद से पूर्णलाभ नहीं उठा पाते हैं। अब तो अंग्रेजी भी उनके लिए संस्कृत के ही समान कठिन प्रतीत हो रही है। ऐसी स्थिति में अब आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय भाषाओं में अनुवाद ग्रन्थ उनके समक्ष हों। फिर भी, इतना तो

प्रकट है कि वर्त्तमान स्थिति में भी अंग्रेजी अनुवाद से सहायता लेने की क्षमता कुछ लोगों में है किन्तु कोरे संस्कृत मूल तो उनके लिए अत्यन्त दुरूह हैं। सुतराम्, आज का प्रयास यह होना चाहिए कि जो संस्कृत-ग्रन्थ अभी उपलब्ध हैं उनका आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो ही जाय, अन्यथा वे अनुपलब्ध के ही समान रहेंगे।

भारतीय दर्शन में शोधकर्त्ताओं के निर्देशन के प्रसंग में प्रस्तुत लेखक को उपर्युक्त आवश्यकता का अनुभव हुआ। महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के शिक्षकों के लिए शोध उपाधि के अनिवार्य हो जाने के कारण आए दिन शोध करने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। पल्लवग्राहिता का इच्छुक भी कभी-कभी भटक कर भारतीय दर्शन के क्षेत्र में चला आता है जिसमें शोधकार्य करने के लिए संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्तियों को अनुवाद की शरण में जाना पड़ता है। परन्तु जब अनुवाद भी उपलब्ध नहीं रहते तो विवशता की स्थिति आ जाती है। परिणाम यह हुआ है कि प्राचीन भारतीय दर्शन से, जिसमें शोध के लिए अजस्र सामग्री पड़ी हुई है, आज का शोधकर्त्ता घबड़ाने लगा है।

माध्यमिक दर्शन में शोध करनेवाले एक छात्र की इसी प्रकार की कठिनता को देख कर आचार्य नागार्जुन कृत 'रत्नावली' के हिन्दी अनुवाद की प्रवृत्ति हुई। जहां तक हमारी जानकारी है, इसका अनुवाद न तो अंग्रेजी में और न हिन्दी में ही किसी ने किया है। यहाँ अनुवाद में यह ध्यान रक्खा गया है कि मूल की कथन प्रणाली के साथ उसकी अनुभूति का सामञ्जस्य हो। यह अनुवाद है, भाष्य अथवा व्याख्या नहीं, इसलिए विस्तार के भय से आशयों के विस्तृत विवरण का

लोभ संवरण करना पड़ा। फिर भी यथा सम्भव इसका प्रयास अवश्य रक्खा गया है कि किसी भी प्रबुद्ध पाठक को इसके आशय को समझने में कठिनता न हो।

(२)

'रत्नावली' को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने वाले हैं इटली के विद्वान् डा० जी० टुच्ची। यह JRAS (1934, '3[illegible]) में छपी थी। प्रस्तुत लेखक को अपने विविध वेदान्तादि दार्शनिक ग्रन्थों के लिखने के प्रसंग में इसका अवलोकन करना पड़ा था। इस प्रकार यह पृथक् पुस्तक के रूप में उपलब्ध नहीं थी। मिथिला विद्यापीठ ने 'मध्यमकशास्त्र' के परिशिष्ट के रूप में इसे पुनः प्रकाशित कर (१९६०) बौद्ध दर्शन के जिज्ञासुओं का इतना उपकार अवश्य किया कि अब पुस्तक के रूप में उन्हें 'रत्नावली' उपलब्ध हो रही है। परन्तु इसके साथ ही विद्वान् सम्पादक (डा० पी० एल० वैद्य) द्वारा इस ग्रन्थ के केवल नाम के सम्पादन को देखकर इसके पाठकों को निराशा ही होती है। देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि डा०वैद्य ने इसका मात्र पुनर्मुद्रण करवा दिया। न तो इसकी अशुद्धियों को हँटाया गया और न इसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में ही कुछ सूचित करने का कष्ट उठाया गया। इसलिए यह आवश्यक था कि उन त्रुटियों को दूर किया जाय। इस पुस्तक में ऐसी चेष्टा की गई है कि उपर्युक्त त्रुटियों के कारण पाठक को कठिनता का सामना न करना पड़े।

आचार्य नागार्जुन की कम से कम दो कृतियाँ पत्रात्मक हैं—(१) 'सुहृल्लेख' जिसे उन्होंने कुशान राजा कनिष्क के लिए लिखा था और (२) 'रत्नावली' जिसे सातवाहन राजा

गौतमी पुत्र यज्ञश्री के पास भेजा गया था। इस राजा का समय १६६–१९९ ई० माना गया है। राजा के लिए लिखे जाने के कारण इसका एक नाम (Tohoku Cat. No. 4158) राजकथा-रत्नमाला भी मिलता है। कहा जाता है कि इस पर अजित मित्र ने एक टीका भी लिखी है। परन्तु टीका की बात तो अलग रहे स्वयं मूलग्रन्थ भी अभी तक सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। मिथिला विद्यापीठ के संस्करण के सम्पादक ने भी प्रायः इसी कारण से प्रारम्भ से लेकर ७७ कारिकाओं तक के अंश के लिए किसी परिच्छेद का नाम नहीं दिया है। पुनः दूसरे खण्ड में ताराचिह्न देकर १ से ४६ कारिकाओं तक को द्वितीय परिच्छेद का नाम दिया है। तीसरे अंश अथवा परिच्छेद का कोई पता नहीं चलता है। चतुर्थ अंश में १०० कारिकाएँ हैं। इसे चतुर्थ परिच्छेद कहा गया है। इस प्रकार केवल दूसरे और चौथे परिच्छेद का ही अंश वस्तुतः पाठकों के समक्ष आ सका है। डा० टुच्ची ने अवशिष्ट अंश के उद्धार की बात की थी परन्तु अभी तक वह पाठकों को उपलब्ध नहीं हो सका है। फिर भी, जो अंश अभी उपलब्ध है वह भी किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आचार्य नागार्जुन के नाम पर 'तंजुर' और 'कंजुर' में कम से कम १२२ ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। परन्तु माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादनकर्त्ता के रूप में उनकी सर्वाधिक ख्याति उनके 'मध्यमकशास्त्र' को लेकर हुई। माध्यमिक तत्त्वमीमांसा के परिज्ञान के लिए यह ग्रन्थ निश्चित रूप से एक अप्रतिम उपादान है। किन्तु दर्शन का अर्थ केवल तत्त्वमीमांसा और तर्क ही नहीं है। आचार्य की अन्य उपलब्ध दो कृतियाँ, 'विग्रहव्यावर्तनी' और 'भवसंक्रान्तिशास्त्र' भी इसी कोटि में

आती हैं। 'मध्यमकशास्त्र' और 'विग्रहव्यावर्तनी' का पाठक भले ही माध्यमिक दर्शन की पेचीदगी से परिचित हो जाय किन्तु इस दर्शन के अन्य अंग उसके लिए अस्पृष्ट ही रह जाते हैं। इसका कारण यह है कि अन्य अंगों का उन ग्रन्थों में समावेश ही नहीं किया गया है। साथ ही, उनकी निषेधात्मक शैली भी इस प्रकार की है कि उससे अन्य विचारों का सहज में दोहन भी नहीं किया जा सकता है। जो व्यक्ति माध्यमिक दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष से भी परिचित होना चाहता है वह इन ग्रन्थों की वायवीय उड़ान से भ्रमित होकर नागार्जुन को या तो वैतण्डिक की संज्ञा दे देता है या शंकराचार्य के समान उसके जैसे गये-गुजरे सिद्धान्त का खण्डन करना भी अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। फिर, उससे किसी व्यावहारिक पक्ष पर पहुँचना तो ऐसे पाठकों के लिए और भी दुष्कर व्यापार है। इसके लिये विपक्षियों पर दोषारोपण करना भी उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि जो निष्पक्ष विचारक हैं उनके लिए भी माध्यमिक तत्त्वमीमांसा का अनुसरण कर उससे निस्यूत अन्य दार्शनिक पक्षों का अनुसन्धान करना अत्यन्त कठिन है।

ऐसी स्थिति में आचार्य नागार्जुन के उपलब्ध ग्रन्थों में से केवल 'रत्नावली' ही ऐसा ग्रन्थ है जिससे आचार्य के कई महत्त्वपूर्ण विचारों पर प्रकाश पड़ता है। परन्तु भाषा और शैली की दृष्टि से 'मध्यमकशास्त्र' में 'रत्नावली' से अधिक निखार स्पष्ट है। दूसरी बात यह भी है कि 'रत्नावली' में आचार्य केवल महायानी दार्शनिक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं उनका शून्यवादी रूप उत्तर काल का है। इन बातों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'मध्यमकशास्त्र' 'रत्नावली' के बाद लिखा गया। महायान साहित्य में इस ग्रन्थ की महत्ता के

कारण इसे अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त था। 'प्रसन्नपदा' के लेखक चन्द्रकीर्ति इसे आर्षकृति के अनुकूल आर्य 'रत्नावली' कहते हैं और अपने ग्रन्थ में कम से कम तेइस स्थलों में इसकी कारिकाओं को उद्धृत करते हैं। परवर्ती काल के 'बोधिचर्यावतार-पञ्जिका' और 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' जैसे बौद्धदर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थों में भी 'रत्नावली के उद्धरण प्राप्त होते हैं। इस लघुकाय ग्रन्थ में महायान के मूलभूत सभी विचारों का संग्रह कर आचार्य ने गागर में सागर भर दिया है। यही इसकी विशेषता है कि महायान के सभी रत्न एकत्रित कर इस तरह माला के रूप में रक्खे गये हैं कि इस 'रत्नावली' को धारण कर कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को कृतकृत्य कर सकता है। रत्नावली के विचारों को हम चार दार्शनिक भागों में विभक्त कर सकते हैं : (१) महायान दर्शन, (२) तत्त्व-दर्शन, (३) आचार दर्शन (४) राजदर्शन।

(३)

बौद्ध विचार में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ महायान का प्रादुर्भाव हुआ। व्यापक मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के कारण ही इसका नाम महायान पड़ा। सूत्रग्रन्थों में इसके मूलतत्त्व निहित थे ही इसलिए इसके प्रतिपादनकर्ता के रूप में किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख करना कठिन है। सच तो यह है कि यह किसी व्यक्ति विशेष का आविष्कार नहीं था, क्योंकि स्वयं ऐतिहासिक आवश्यकता की शक्ति ने ही इसकी सृष्टि की थी। अश्वघोष ने सर्वप्रथम अपने महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' में इसे क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। नागार्जुन ने इस पर तर्क का खराज देते हुए

माध्यमिक दर्शन के रूप में रक्खा। अश्वघोष और नागार्जुन को हम यदि समसामयिक मानें तो सत्य से दूर नहीं होंगे, क्योंकि दोनों का ही सम्बन्ध कनिष्क से बतलाया जाता है। इसलिए जिस प्रकार अश्वघोष को हम महायान का प्रतिष्ठाता मानते हैं उसी प्रकार नागार्जुन को भी मानना चाहिए। प्रत्युत, दर्शन के क्षेत्र में अश्वघोष से कहीं अधिक महत्त्व नागार्जुन का ही है। कुछ लोग तो 'शतसाहस्रिका प्रज्ञा-पारमिता' जैसे सूत्र-ग्रन्थ का रचयिता नागार्जुन को ही मानते हैं।

यह स्वाभाविक ही है कि जब कभी किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन का आगमन होता है तो निहित स्वार्थ उससे घबड़ा कर उसके प्रतिद्वेष का व्यवहार करता है। नागार्जुन के कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि हीनयानियों ने महायान का घोर विरोध किया और उस पर आक्षेपों के बौछार किए। स्वार्थ केन्द्रित हीनयानी दृष्टि को महायान की परार्थ-परायणता कैसे सत्य होती ? महायान के आचार का केन्द्र-बिन्दु वह आदर्श है जिसका मूर्त्तरूप बोधिसत्त्व है जो अपने निर्वाण को भी रोक कर संसार के दुःखक्षय का प्रयत्न करता है। उसकी कामना रहती है कि भले ही कलि के सारे पाप उसके शिर पर आकर उसे दबोचे परन्तु संसार को उससे त्राण मिले :

'कलिकलुषकृतानि यानि मयि निपतन्तु विमुच्यतां हि लोकः।

जिस बोधिसत्त्व के ऊपर परमार्थज्ञान प्राप्त बुद्धों ने इतना विपुल भार रक्खा उसके प्रति कृतज्ञता की बात तो दूर रहे, उल्टे मूर्ख लोग उससे द्वेष करते हैं। संसार के दुःख को अपना समझना और वैसा समझ कर उसे दूर करने का

प्रयास करना—इससे बड़ा सुदर्शन लक्ष्य और क्या हो सकता है ? परन्तु जो गुण-दोष में अन्तर ही नहीं समझता अथवा गुण को भी दोष ही समझता है वही ऐसे महापुरुष का निन्दक हो सकता है। दूसरे को कष्ट देने से बड़ा दोष क्या हो सकता है और दूसरे पर दया करने से बड़ा गुण क्या हो सकता है ? किन्तु जिस व्यक्ति में ऐसे दोष का अभाव और गुण का भाव हो, फिर भी जो व्यक्ति उससे द्वेष करता है, वही महायान का निन्दक हो सकता है। हीनयानी का लक्ष्य केवल अपना ही क्लेशनाश है। किन्तु महायानी औरों के क्लेशक्षय के लिए प्रयत्नशील रहता है। यही उसका आदर्श है। फिर भी यदि कोई उसकी महत्ता के द्वेष से जलता है तो उसके इस प्रकार जल-भुन जाने की क्या चिन्ता की जाय।

एक विष का शमन दूसरे विष के द्वारा किया जाता है तो फिर अपने दुःख के द्वारा दूसरे के दुःख का शमन किया जाय तो इसमें क्या विरोध हो सकता है ? जो कार्य अच्छे आशय से किया जाता है वह शुभ समझा जाता है और जो बुरे आशय से किया जाता है वह अशुभ समझा जाता है। फिर दुःख सहकर भी हित की कामना से जो कुछ किया जाय वह अशुभ कैसे हो सकता है ? तुच्छ सुख के त्याग से यदि विस्तृत सुख की उपलब्धि होती हो तो कौन विचारशील व्यक्ति तुच्छ सुख की अभिलाषा करेगा ! यही कारण है कि निरोगता के सुख को पाने के लिए औषध के क्षणिक कड़वेपन के कष्ट को लोग सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। यही महायान का सामान्य दृष्टिकोण है।

आचार्य नागार्जुन अपने सिद्धान्तों में कट्टरपन्थी नहीं हैं। परिस्थिति के अनुसार वे अपवाद के स्थलों को भी स्वीकारते

हैं। करुणा और ज्ञान मानवता के उत्कृष्टतम गुण हैं। ये ही महायान के सभी सिद्धान्त के सामान्य आधार हैं। हीनयानी बौद्ध और अन्य विरोधी लोग अपनी हीनता की भावना से दबकर ही इस उदार और गम्भीर धर्म की निन्दा करते हैं। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा—इन्हीं को तो महायान की संज्ञा दी गई है। इनमें से सभी गुण मानव भाव की उत्तुङ्गता के ही परिचायक हैं। फिर, इनसे द्वेष कैसा ? जो अज्ञानी हैं उन्हें पुण्य और ज्ञान से परिपूर्ण यह बोधि का प्रशस्तपथ नहीं दीखता है।

आचार्य नागार्जुन के अनुसार महायान के मुख्य प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित हैं :

दूसरों के मोक्ष के लिए अपने में दान, शील, क्षान्ति और वीर्य के सद्‌गुणों की और अपने मोक्ष के लिए ध्यान और प्रज्ञा के अन्तर्गुणों की आराधना करनी चाहिए। इन गुणों की उपलब्धि छः प्रकार की पारमिताओं के अनुसरण से हो सकती है।

महायान के अनुसार बुद्ध कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। वह तो आकाश के समान अचिन्त्य गुण एक आदर्श है। इसलिए बुद्ध माहात्म्य भी अचिन्त्य गुण है। आचार्य नागार्जुन जिस बुद्ध को अचिन्त्य गुण कहते हैं वही परवर्त्ती काल में 'आदि बुद्ध' कहे जाते हैं। इन्हीं से सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति मानी गई है। अन्य बुद्ध उसी आदिबुद्ध से स्थूल अवतारी रूप समझे जाते हैं। इनकी तुलना हम वैदिक सम्प्रदाय के निर्गुण और सगुण ब्रह्म से कर सकते हैं।

सापेक्ष वस्तुओं की शून्यता को ही अनुत्पाद और क्षय कहा गया है। इसलिए वस्तुओं का अनुत्पाद और क्षय समा-

नाथक हैं। इस प्रकार शून्यता ही बुद्ध माहात्म्य है। यदि इस सिद्धान्त को युक्तिपूर्वक समझा जाय तो महायान से बाहर की भी उक्तियाँ इसमें समीकृत होती देखी जा सकती है।

तथागत के गम्भीर उपदेश को समझने में कठिनता के कारण अनेक यानों का आविष्कार किया गया जिससे उपदेश की वास्तविकता आवृत हुई दीखती है। इसलिए मतवादों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना चाहिए किन्तु उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए, क्योंकि किसी भी प्रकार का द्वेष-भाव क्यों न हो, वह महायान की प्रवृत्ति के विरुद्ध है।

हीनयान में न तो बोधिसत्त्व के प्रणिधान की कोई बात है और न तदनुकूल आचरण के नियमन की ही व्यवस्था है। फिर उससे बोधिसत्त्व जैसे उच्च व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव हो सकता है! ऐसा नहीं समझना चाहिए कि महायान प्रतिपादित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी अलौकिक पद्धति का अनुसरण करना है। बोधिसत्त्व के अधिष्ठान आर्य सत्य का व्यापक अर्थ और उसका ज्ञानपक्ष—इन सबों से उपसंहित सामान्य श्रावक मार्ग ही सर्वाधिक प्रशस्त मार्ग माना गया है।

महायान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें महात्मा बुद्ध के हर प्रकार की उक्ति का सामञ्जस्य दिखलाया जा सकता है। तथागत ने अधिकारियों के अनुकूल ही अनेक प्रकार के अपने उपदेश प्रचारित किए। अद्वयज्ञान का उपदेश उन्होंने वैसे शिष्यों को दिया जो उत्कृष्ट कोटि के थे अर्थात् जिनकी बौद्धिक जागृति उक्त प्रकार के उपदेश को ग्रहण करने योग्य हो चुकी थी। इस प्रकार महायान में हर प्रकार की क्षमता वाले अधिकारी के लिए उपयुक्त सन्देश है। इसी

के द्वारा ऐहलौकिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस दोनों की ही सिद्धि हो सकती है। इसलिए गृहस्थों को दान, शील, क्षमा और सत्य के उत्तरोत्तर अभ्यास के द्वारा धर्म का निर्वाह करते हुए अन्त में ज्ञान की पराकाष्ठा की संप्राप्ति के लिए प्रव्रज्या को ग्रहण करना चाहिए।

(४)

'रत्नावली' के तत्त्वविचार का प्रारम्भ 'मैं' और 'मेरे' की सामान्य भावना के विश्लेषण से किया गया है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के उपोद्घात में इस प्रकार की समता ध्यान देने योग्य है।

आचार्य नागार्जुन का कथन है कि यह सारा सांसारिक जीवन 'मैं' की भावना की उपज है। 'मैं' से ही मेरे की उत्पत्ति होती है और इन्हीं दोनों के ताने-बाने से इस व्यावहारिक जीबन का विपर्यस्त वितान खड़ा होता है। न मैं' हूँ", न 'होऊँगा' और न मेरा कुछ है ही—यह सुनकर मूर्खों को त्रास हो सकता है किन्तु उसके विपरीत पण्डितों के भय का नाश हो जाता है, क्योंकि वही एकमात्र वास्तविकता है। जब 'मैं' ही नहीं तो फिर 'मेरा' कहाँ से होगा ? जिसका बीज ही नहीं उसका पौधा कैसे हो सकता है। स्कन्धों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। परन्तु अहंकार ही वस्तुतः मिथ्या है। स्कन्धों की असत्यता को देखनेवाले का अहंकार स्वतः नष्ट हो जाता है। और, अहंकार के नष्ट हो जाने पर फिर स्कन्धों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। दर्पण के सम्मुख रखने पर जैसे उसमें अपना मुख दीख पड़ता है जो वस्तुतः उस स्थान में रहता नहीं है, उसी प्रकार स्कन्धों के उपसंहित रूप में अहंकार की प्रतीति होती है जो

तत्त्वतः स्वयं में कुछ नहीं रहता है। जब तक स्कन्धों को कोई सत्यरूप में देखता है तब तक उसका अहंभाव बना रहता है, जिसके कारण जन्म-मरण के चक्र में अनवरत घूमना पड़ता है।

इस संसार का कहीं आदि, मध्य और अन्त नहीं है। फिर भी, यह उन्हें हेतु बनाकर तिनके की छोर पर की चिनगारी के समान वर्त्तमान, भूत और भविष्य के मार्गों से भ्रमित होता हुआ एकात्मकता की प्रतीति कराता रहता है। परन्तु युक्तिपूर्वक इसका विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अहंकार की न तो निजी सत्ता है और न किसी अन्य वस्तु की ही अपेक्षा में उसकी सत्यता को स्थिर किया जा सकता है। इसलिए निरवलम्ब होने के कारण इसकी वास्तविक सत्ता है ही नहीं, यह समझ जाने पर अहंभाव का क्षय हो जाता है। उसके क्षय के साथ ही कर्म और उसका फल जन्म-ग्रहण भी निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार हेतु और फल भी शृंखला में आबद्ध संसार की उपलब्धि न तो भाव के रूप में हो सकती है और न अभाव के रूप में। संसार की इस तात्त्विक अनात्मिकता पर अविवेकी पुरुष भयकम्पित हो जाता है। वह सोचता है कि इस संसार में उसका कुछ नहीं है क्या? परन्तु उसे समझना चाहिए कि संसार के इसी रूप के ज्ञान से उसके समस्त दुखः का क्षय हो सकता है और निर्वाण की उपलब्धि हो सकती है। निर्वाण ही निःश्रेयस है अतः इसकी आकांक्षा तो प्रत्येक श्रेयः काम व्यक्ति को रहती है। परन्तु निर्वाण की स्थिति में भी तो न आत्मा रहती और न स्कन्ध ही रहते हैं। फिर इस जीवन में ही यदि उनके अभाव की बात कही जाती है तो यह क्यों नहीं रुचती? इसका यह अर्थ नहीं है कि

निर्वाण मात्र अभाव की स्थिति है। यह पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि सभी द्वन्द्वों के परे की अवस्था है।

आचार्य नागार्जुन ने आस्तिकवाद और नास्तिकवाद की समस्याओं को कार्य-कारणवाद के साथ सम्वद्ध कर दोनों की व्यर्थता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। वस्तुओं की सहेतुक उत्पत्ति को देखकर वास्तविकता का भाव अतिक्रमित हो जाता है और हेतु के साथ निरोध को भी देखकर अस्तिता की भी व्यर्थता प्रमाणित हो जाती है। इस प्रकार की प्रज्ञप्ति और उत्पत्ति के तात्त्विक रूप से प्रतीत न होने के कारण से पहले उत्पन्न होने वाला और कार्य के साथ-साथ उत्पन्न होनेवाला कारण वास्तविक अर्थ में कारण हो ही नहीं सकता है।

कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा करके ही उत्पन्न होती हुई देखी जाती है, जैसे दीपक के जलने से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। इसलिए दोनों में से किसी की भी अपनी स्वतन्त्रसत्ता नहीं मानी जा सकती है, जैसे छोटे के बिना बड़े की और बड़े के बिना छोटे की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस प्रकार कार्य कारण की उत्पत्ति को देखकर नास्तिता की सिद्धि नहीं हो सकती है और इस संसार के यथावस्थित प्रपञ्च को जानकर और सत्य की अपेक्षा में प्रपञ्च के निरोध को प्राप्त कर अस्तिता की भी सिद्धि नहीं होती है। यह देखकर ही अद्वय को निश्चित कर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

संसार की अयथार्थता को मरीचिका के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए आचार्य नागार्जुन युक्ति देते हैं कि दूर से देखा गया रूप निकटस्थ लोगों द्वारा अधिक स्पष्टता से देखा जाता है। परन्तु मरीचिका का जल यदि वास्तविक जल होता तो

निकटस्थ लोगों को वैसा क्यों नहीं दीखता ? जिस प्रकार जल के समान प्रतीत होने वाली मरीचिका जल नहीं है उसी प्रकार अपने प्रतीत होने वाले स्कन्ध आत्मा नहीं हैं। वे तत्त्वतः कुछ नहीं है। यदि मरीचिका को जल मानकर कोई प्रतीतिस्थल में जाए और यह पावे कि वहाँ जल नहीं है तो इससे वहाँ जाने वाली की मूर्खता ही सिद्ध होती है। उसी प्रकार मरीचिका के समान इस संसार के सम्बन्ध में यह धारणा कि ऐसा अथवा वैसा है, नितान्त अज्ञान ही है। जब तक ऐसा अज्ञान बना रहता है तब तक मोक्ष नहीं हो सकता है। आचार्य नागार्जुन की पद्धति मध्यमा प्रतिपद् की है जो अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को पार कर जाती है। फिर भी व्यवहार के स्तर में नास्तित्व से अधिक उपयोगी अस्तित्व को माना गया है। आचार्य को इससे घोर विरोध है कि कोई उनके दर्शन को नास्तिकवाद की संज्ञा दे।

अन्य सभी दर्शनों से अपने दर्शन का पार्थक्य बताने के लिए आचार्य पूछते हैं कि क्या सांख्य, न्याय जैन हीनयानी बौद्ध आदि में से कोई ऐसा तन्त्र है जिसने अपने विचार को 'अस्ति' और 'नास्ति' की कोटियों से बाहर रक्खा है ? यही महायान की विशेषता और महत्ता है कि उसका आलम्बन वहाँ है जहाँ अन्य किसी दर्शन की पहुँच ही नहीं है।

नागार्जुन का दर्शन अजातवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। गौड़पाद ने अपनी माण्डूक्यकारिका में भी इसी सिद्धान्त को अपनाया है। इसके अनुसार संसार का जन्म ही नहीं होता, फिर इसकी स्थिति और नाश ही क्या हो सकता है तीनों कालों में निवृत्त इस संसार की वस्तुतः सत्ता ही कहाँ है ? इसलिए संसार के आने-रहने-जाने का कोई अर्थ ही नहीं होता है। या

यों कहा जा सकता है कि स्थिति के अभाव के कारण से किसी वस्तु की न तो वास्तविक उत्पत्ति हो सकती है और न उसका नाश ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में उत्पन्न, स्थित और नष्ट का क्या अर्थ हो सकता है ?

यदि वस्तुओं के परिणाम को माना जाय तो कोई भाव नित्य कैसे हो सकता है ? यदि परिणाम को नहीं माना जाय तो परिवर्तन की व्याख्या ही नहीं हो सकती है।

कुछ दार्शनिक का यह विश्वास है कि वस्तुओं की क्षणभर की स्थिति रहती है। परन्तु आचार्य नागार्जुन इसका भी विरोध करते हैं। क्षणिकता की मान्यता आंशिक हो अथवा सम्पूर्ण विषमता एवं अनुपलब्धि के कारणों से यह युक्तिसंगत नहीं कही जा सकती है। यदि प्रत्येक प्रकार से क्षणिकता मानी जाए तो पुरानेपन की व्याख्या कैसे होगी ? स्थिरता के कारण यदि अक्षणिकता मान ली जाए तो उस स्थिति में भी पुरानेपन की व्याख्या नहीं हो सकेगी। यदि क्षण का अन्त माना जाता है तो उसकी आदि और अन्त को भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार क्षण के तीन भाग होने से संसार की क्षणिक स्थिति का अर्थ ही क्या होगा ?

फिर आदि, मध्य और अन्त का भी विश्लेषण पूर्वोक्तक्षण के प्रकार से ही किया जा सकता है। एक तो इससे अनवस्था प्रसंग का जन्म होगा और दूसरी कठिनता यह होगी कि आदि, मध्य और अन्त की सिद्धि न तो निरपेक्ष रूप में और न किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से ही हो सकती है।

दैशिक ईकाई की भी व्यर्थता उपर्युक्त प्रकार से ही सिद्ध हो जाती है। देशहीन कहीं नहीं है, इसलिए उसके अनेक प्रदेश

होने के कारण एकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है। फिर, विना एक के अनेक भी नहीं हो सकते हैं।

सापेक्षता के आधार पर ही आचार्य नागार्जुन ने अस्तिता और नास्तिता के सम्बन्ध की भी व्याख्या की है। अस्तित्व की नास्तिता अस्तित्व के अभाव अथवा उसके प्रतिपक्षी भाव के रूप में समझा जा सकता है। परन्तु अस्तिता के असम्भव होने के कारण उसका अभाव या प्रतिपक्ष क्या हो सकता है ?

'अस्ति'-नास्ति के ही पचड़े में हम दिग्भ्रमित होकर न रह जायें इसलिए आचार्य हमें स्मरण दिलाते हैं कि उपर्युक्त प्रकार के कथनों से संसार की वास्तविक निवृत्ति की हानि नहीं होती है। यह पूछे जाने पर कि क्या संसार का अन्त है ? बुद्ध ने चुप्पी साध ली। यह अज्ञानी की नहीं वरंच सर्वज्ञ की मूकता थी। महायान इसी मूकता की व्याख्या कर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

इसी प्रसंग में आचार्य ने अपने दर्शन के नैरात्म्यसिद्धान्त की भी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनकी युक्ति है कि जिस प्रकार केले के स्तम्भ के स्तरों को उघारते हुए चले जाने पर अन्त में कुछ नहीं बचता है उसी प्रकार छः धातुओं से निर्मित व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर कोई ऐसा स्थायी तत्त्व नहीं बचता जिसे आत्मा कहा जाता है। जो भी कुछ प्रतीत होता है वह धातुओं की संघटना मात्र है। किन्तु इनकी भी परीक्षा की जाती है तो कुछ नहीं बचता है। सत्य और मिथ्या, ये दोनों ही प्रतिपक्षी भाव हैं, अतः परमार्थिक दृष्टि से न तो आत्मा है और न अनात्मा ही, यद्यपि आचार्य नागार्जुन ने संसार की व्याख्या के प्रसंग में 'अनिर्वचनीय' शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं किया है

किन्तु उनकी व्याख्या की प्रक्रिया को देखते हुए इसी परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि वे भी वेदान्तियों की तरह संसार को अनिर्वचनीय मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि जो लोक तीनों कालों में नहीं है वह वस्तुतः किस प्रकार हो सकता है ? जो है, अथवा नहीं है, वह तो केवल व्यावहारिक दशा में प्रतीत होता है। पारमार्थिक दृष्टि से यह लोक अतत्त्व है। इस प्रकार 'मध्यमकशास्त्र' में प्रतिपादित दो सत्यों की स्वीकृति की प्रतिध्वनि 'रत्नावली' में भी स्पष्ट रूप से सुनाई दे रही है।

(५)

(३) आचार-दर्शन

आचार्य नागार्जुन का आचार-दर्शन उनके धर्म-दर्शन से अवियोज्य रूप से सम्बद्ध है, क्योंकि उनके धर्मदर्शन के आधार पर ही आचारिक मूल्यों की नींव डाली गई है। धर्म दर्शन की प्रथम मान्यता यह है कि धर्म के तत्त्वों का ग्रहण इसका कोई उचित पात्र ही कर सकता है। आचार्य ने अपने पत्र के प्रारम्भ में ही इसका उल्लेख किया है कि (प्रसंग के) राजा को उचित अधिकारी समझकर ही उसे वे धर्म का उपदेश दे रहे हैं।

आचार्य नागार्जुन वैदिक सम्प्रदाय वालों के साथ इस विषय में सहमति प्रकट करते हैं कि जीवन का लक्ष्य अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों है। किन्तु जहाँ वैशेषिक दोनों की सिद्धि धर्म के द्वारा मानते हैं (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः) वहाँ आचार्य नागार्जुन केवल अभ्युदय की उपलब्धि धर्म के द्वारा मानते हैं। निःश्रेयस का साधन वे प्रज्ञा को मानते

हैं। इस विषय में उनकी तुलना हम शंकराचार्य से कर सकते हैं जो ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार माध्यमिक विचार में मूल्य की दृष्टि से प्रज्ञा की प्रधानता है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से श्रद्धा का ही प्रथम स्थान है. क्योंकि पहले धर्म के द्वारा अभ्युदय की प्राप्ति हो जाने पर ही अन्त में क्रमानुसार मोक्ष की उपलब्धि करनी होती है।

आचार्य नागार्जुन ने अपने आचार-दर्शन में आचार के उन्हीं सर्वमान्य तत्त्वों का संग्रह किया है जो मानवीय चरित्र को दोषों से अलग कर उसे उदात्त बनाने में सहायक हो सकते हैं। अहिंसा, चोरी नहीं करना, परपत्नी से असम्पर्क, झूठ, चुगलखोरी, कठोरता और रूढ़िवादों से संयम करना, लोभ, प्राणहरण और नास्तिकता की दृष्टि का त्याग—ये दश प्रशस्त मार्ग कहे गये हैं। इनके विपरीत के दश दूषित मार्ग हैं।

मद्य नहीं पीना, सम्यक् जीवन निर्वाह करना, अनिर्दयता, आदर से दान देना, पूज्य का सत्कार करना और सबके साथ मैत्री भाव रखना—इन्हीं के एकत्रित रूप को धर्म की संज्ञा दी गई है, स्मरणीय है कि मनुस्मृति में कथित धर्म के घटकों का स्वरूप इनसे थोड़ा भिन्न है। मनु ने धर्म के लक्षण में धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध का समावेश किया है। इन्हें देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों दृष्टिकोणों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

महायान का विश्वास है कि शरीर को केवल सताने से ही धर्म-संचय नहीं होता है। धर्म के साधन के रूप में इसकी रक्षा करनी ही चाहिए। ध्यान केवल यही रखना है कि न तो

सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति हो और न उनसे द्वेष भाव ही रक्खा जाय। इसलिए मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग कहा गया है।

आचार्य नागार्जुन का मत है कि हम अपने जीवन में दान, शक्ति और क्षमा के तत्त्वों को नहीं अपनाते हैं इसलिए औरों के साथ स्वयं भी क्लेश के भागी बनते हैं। औरों को कष्ट देने से अधिक घृणित अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता है। हिंसा से आयु घटती है और निर्दयता से अनेक प्रकार के कष्ट का आगमन होता है। चोरी से भोग में व्यसन होता है और परस्त्री के प्रति आसक्ति से शत्रुता उत्पन्न होती है।

आचरण के अन्य कुत्सित तत्त्वों के दुष्परिणाम को प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं कि मिथ्या बोलने से सत्य का निराकरण होता है, चुगलखोरी से मित्रता टूटती है, रूखेपन से अनभियत बातें सुनने को मिलती हैं और निष्प्रयोजनता से दुर्भाग्यपूर्ण वचन निकलते हैं। लोभ मनोरथों को नष्ट करता है और द्रोह चिन्तन से भय की स्थिति उत्पन्न होती है। मद्यपान हेय है, क्योंकि इससे बुद्धि भ्रष्ट होती है। दान नहीं करने से दरिद्रता होती है और दूषित जीवन वृत्ति द्वारा निर्वाह करना आत्मवञ्चना है। जीवन की जड़ता से दुष्कुलीनता के दुर्गुणों का आवाहन होता है और ईर्ष्या से अपनी ही शक्ति क्षीण होती है। क्रोध से हृदय में मलिनता आती है और जिज्ञासा के अभाव में मूर्खता उत्पन्न होती है। लोभ, द्वेष और मोह से उत्पन्न कार्य अशुभ होते हैं। अतः शुभकामना के लिए इन सबों का त्याग करना उचित है। मन, वचन और कर्म से अशुभ मात्र से निवृत्ति और शुभ की ओर प्रवृत्ति ही धर्म है। अशुभ से सभी दुःख और दुर्गतियाँ होती हैं और शुभ से सभी

प्रकार के सुख होते हैं। धर्म के दो पक्ष हैं—अशुभ से निवृत्ति और शुभ की ओर प्रवृत्ति। इस प्रकार से धर्म की साधना करने पर नरक, प्रेत और तिर्यक्‌योनि से मुक्ति मिलती है एवं नर-लोक तथा देवलोक में सुख की प्राप्ति होती है। पीछे ध्यान एवं अपरिमित आध्यात्मिक दृष्टियों से ब्रह्मादि सुख की भी उपलब्धि होती है। यही अभ्युदय का धर्म और उसका समस्त फल है।

(६)

(४) राजदर्शन

आचार्य नागार्जुन का सौम्य राजदर्शन 'रत्नावली' के पाठकों का ध्यान बरबस आकृष्ट कर लेता है। चाणक्य आदि राजनीतिज्ञों ने जिस कूटनीति का अपनी राजनीति में समावेश किया उसका स्पर्श तक इस आचार्य के विचार में नहीं मिलता है। व्यापक मानवतावादी विचार के अनुकूल ही उनके राज-दर्शन में विश्वबन्धुत्व की भावना उभरी दीख पड़ती है। धर्म-नीति से अनुप्राणित सामान्य आचार-नीति को ही वे राजनीति का उपजीव्य मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि राजनीति का केवल साध्य ही नहीं अपितु साधन भी धर्म के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए 'रत्नावली' कहती है कि धर्मलक्षित कार्यों का यों सम्पादन करता हुआ व्यक्ति कि वे आदि और मध्य में भी धर्म के अनुकूल हों, न तो इस लोक में और न परलोक में ही कष्ट पाता है। धर्म सबसे बड़ी नीति है क्योंकि धर्म से जनता सुखी होती है। जनता के सुखी रहने से ही कोई शासक अपनी सफलता का उचित गर्व कर अपने को कृतकृत्य समझ सकता है। अधर्म से जो नीति निर्मित होती है उससे जनता

दुःखी होती है और जनता के दुःखी होने से राजा को कहीं भी सुख नहीं मिल सकता है। दण्डनीति जैसी विद्या से आचार्य को घृणा ही नहीं अपितु घोर विरोध भी है। वे कहते हैं कि जिस विद्या में दूसरों को कष्ट देने का विधान हो वह विद्या हो ही नहीं सकती है।

राजा के लिए उनका उपदेश है कि वह प्रिय वचन के साथ दान से और दूसरों के हित को एकमात्र विषय बनाये हुए आचरण से व्यवहार करता हुआ लोक-संग्रह और धर्म-संग्रह करे। उन्होंने राजा से सत्यव्रती होने का आग्रह किया है, क्योंकि जिस प्रकार प्रजा के बीच राजा का एक सत्य दृढ़ विश्वास उत्पन्न करता है उसी प्रकार उसका एक असत्य बहुत बड़े अविश्वास का भी जन्म देता है। यथार्थकथन को तभी सत्य का नाम दिया जा सकता है यदि उससे औरों का एकान्त हित होता हो। यहाँ योग दर्शन के सत्य के लक्षण के साथ आचार्य के सत्य सम्बन्धी विचार की पूर्ण समता दीखती है।

आचार्य नागार्जुन ने राजा को उदार-चेता होने की सलाह दी है, क्योंकि त्याग एक ऐसा प्रशस्त गुण है जो अन्य दोषों को ढँक देता है। उसी प्रकार कृपणता का दोष ऐसा होता है कि वह सभी गुणों को नष्ट कर देता हैं। राजा को राग पर विजय पाना चाहिए क्योंकि जिसके राग उपशमित हो जाते हैं उसमें स्वतः गम्भीरता आ जाती है। गम्भीरता से गौरव की प्राप्ति होती है। उस गौरव से ऐसे गुण का उदय होता है जिसके प्रभाव से प्रजा में उस राजा की आज्ञा को पालन करने की प्रवृत्ति अपने-आप जागरित हो जाती है। राजा को भय से नहीं किन्तु अपने गुणों से प्रजा के सम्मान का पात्र बनना चाहिए।

सत्य, त्याग, राग और प्रजा के चार गुणों से समन्वित राजा चतुर्वर्ग धर्म के समान देवता और मनुष्य द्वारा आराधित होता है। राजा के लिए आचार्य ने मद्य के वर्जन पर बहुत बल दिया है, क्योंकि वह अनेक अनर्थ का मूल हुआ करता है।

आचार्य का मत है कि राजा के पास जो कुछ धन है वह प्रजा द्वारा दिया गया दान है। इसलिए सत्पात्र में दान देकर ही उसका समुचित उपयोग करना चाहिए। धन न किसी का रहा है और न रहेगा, इसलिए संचितधन का सदुद्देश्य में ही व्यय करना बुद्धिमत्ता है। पूर्व के राजाओं ने जो धर्म के अधिकार निश्चित किए थे और धर्मकार्यों के लिए धन की व्यवस्था की थी उन्हें वे उसी रूप में रखने का विचार देते हैं। जो गुणवान, अहिंसक, शुभ आचरण करनेवाले, व्रती और अभ्यागत हों उनका सदा आदर करना चाहिए। राजा का कर्त्तव्य है कि अन्धे, विकलांग, रोगी, दीन और अनाथ याचकों के लिए समतापूर्वक अन्नपानादि की व्यवस्था करे। दूसरे राज्य में भी रहने वाले यदि कोई धार्मिक, सज्जन और विद्वान् पुरुष हों तो उनका उचित समादर करना राजा का कर्त्तव्य है।

राजा को धर्ममात्र के प्रति उदार व्यवहार रखना चाहिए। सब धर्म के अधिकारों में उनकी बाधाओं को दूर करने के लिए जागरूक, अलोभी, पंडित और धर्मनिष्ठ धर्माधिकृत की नियुक्ति करनी चाहिए। राजा ऐसे मन्त्री की नियुक्ति करे जो नीतिज्ञ, धार्मिक, मधुर स्वभाव वाले, पवित्र, भक्त, निर्भय, कुलीन, शीलवान् और कृतज्ञ हों। दण्डाधिकारी ऐसे हों जो नीच न हों, त्यागी, शूर, स्नेहस्वभाववाले, अचंचल, स्थिर बुद्धिवाले और धार्मिक हों। आय-व्यय के अवेक्षक के रूप में ऐसे व्यक्ति को

नियुक्त करने की सलाह दी गई है जो धर्मशील, पवित्र, कार्य का ज्ञान रखनेवाले, शास्त्रों में निपुण, समान स्तर के मधुर स्वभाववाले और अनुभवी हों। ऐसे व्यक्तियों के अधिकारी रहने पर भी राजा को प्रतिमास आय-व्यय का लेखा-जोखा स्वयं लेना चाहिए और तदनुसार कार्यों की व्यवस्था करनी चाहिए।

मात्स्यन्याय के द्वारा राज्य करना पशु प्रवृत्ति का परिणाम है। जिससे राज्य के साथ धर्म भी रहे इसके लिए आचार्य का परामर्श है कि राज्य का उद्देश्य धर्म होना चाहिए कीर्ति और कामना पूर्त्ति नहीं। राज्य के जितने उच्च कर्मचारी हों उन्हें ज्ञान निष्णात, कुलीन न्यायज्ञ और पापभीरु होना चाहिए। परन्तु उचित रूप से भी वे यदि दण्ड, बन्धन और शारीरिक यातना की व्यवस्था करते रहें तो राजा को करुणा से आर्द्र होकर अपराधियों पर कृपा दिखलानी चाहिए। कठोर पाप करने वाले और भी अधिक दया के पात्र होते हैं क्योंकि उनकी स्वत्वभावना तक नष्ट हो गई रहती है।

आचार्य का दण्ड-विधान सम्बन्धी विचार परम्परावादी सिद्धान्त के मूलतः भिन्न है। वे इस मत के पोषक नहीं हैं कि कठोर दण्ड देकर अपराधियों का सुधार करना चाहिए। कठोर दण्ड देना स्वयं एक अपराध है। वे तो यह कहते हैं कि कठोर पाप भी करने वाले सभी प्राणियों पर कृपा कर उनके हित के लिए उनके हृदय को सर्वदा ऊपर उठाना चाहिए। कारागार में बँधे अपराधियों को वे क्रमशः मुक्त कर देने की सलाह देते हैं। साथ ही, वे यह भी सलाह देते हैं कि जब तक अपराधी कारावास में रहें तब तक उन्हें सभी सामान्य आवश्यकताओं

को इस प्रकार पूर्ति होनी चाहिए कि कारागार में उन्हें यातना का बोध न हो। दण्ड के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि बिगड़े हुए पुत्र के समान अपराधियों के सुधार के लिए दया के साथ उन्हें शारीरिक कष्ट देना चाहिए, द्वेष अथवा धन के लोभ से नहीं प्राण-दण्ड को किसी भी स्थिति में उचित नहीं माना गया है।

जो राजा जनता के हित के लिए इस प्रकार सतत प्रयत्नशील रहता है उसको त्याग और शील के गुणों से युक्त तेजस्विता प्रजा को प्रिय लगती है। उसके राज्य में अधर्म और अन्याय का अवकाश नहीं रहेगा। इस प्रकार धर्म से सफलतापूर्वक राज्य करने के उपरान्त आचार्य का परामर्श है कि चरम अवस्था में पहुँचकर राजा को प्रव्रज्या का ग्रहण कर लेना चाहिए।



रत्नावली

नमो रत्नत्रयाय

सर्वदोषविनिर्मुक्तं गुणैः सर्वैरलंकृतम् ।
प्रणम्य सर्वज्ञमहं सर्वसत्त्वैकबान्धवम् ।। १ ।।

धर्ममेकान्तकल्याणं राजन् धर्मोदयाय ते ।
वक्ष्यामि धर्मः सिद्धि हि याति सद्धर्मभाजने ।। २ ।।

हे राजन्, वास्तविक धर्म के आश्रय में ही धर्म सिद्धि को प्राप्त करता है। इसलिए सभी दोषों से सर्वथा मुक्त, सभी गुणों से भूषित और प्राणियों के एकमात्र बन्धु सर्वज्ञ (बुद्ध) को प्रणाम कर मैं तुम्हारे धर्मोदय के लिए सर्वाधिक कल्याणकारी धर्म को कहूँगा ।। १–२ ।।

प्राग्धर्माभ्युदयो यत्र पश्चान्नैःश्रेयसोदयः ।
संप्राप्याभ्युदयं यस्मादेति नैःश्रेयसं क्रमात् ।। ३ ।।

जहाँ पहले धार्मिक अभ्युदय होता है वहीं पीछे निःश्रेयस का उदय होता है; क्योंकि पहले धार्मिक अभ्युदय को प्राप्त करके ही कोई क्रमशः निःश्रेयस की स्थिति को प्राप्त करता है ।। ३ ।।

सुखमभ्युदयस्तत्र मोक्षो नैःश्रेयसो मतः ।
अस्य साधनसंक्षेपः श्रद्धा, प्रज्ञे समासतः ।। ४ ।।

सुख की स्थिति को अभ्युदय और निःश्रेयस की स्थिति को मोक्ष कहा जाता है। श्रद्धा और प्रज्ञा को इन दोनों का मिलाजुला संक्षिप्त साधन माना गया है ।। ४ ।।

श्राद्धत्वाद्भजते धर्मं प्राज्ञत्वाद्वेत्ति तत्वतः ।
प्रज्ञाप्रधानं त्वनयोः श्रद्धा पूर्वङ्गमास्य तु ।। ५ ।।

श्रद्धा से धर्म की उपलब्धि होती है और प्रज्ञा से तात्त्विकज्ञान होता है। इन दोनों में प्रज्ञा प्रधान है फिर भी श्रद्धा का स्थान प्रथम है ॥ ५ ॥

छन्दाद् द्वेषाद्भयान्मोहाद्यो धर्मं नातिवर्तते ।
स श्राद्ध इति विज्ञेयः श्रेयसो भाजनं परम् ॥ ६ ॥

परवशता, द्वेष, भय अथवा मोह के कारण जो धर्म का अतिक्रमण नहीं करता है उसको श्रद्धासम्पन्न समझना चाहिए। वही व्यक्ति श्रेय का भी सर्वोत्कृष्ट पात्र हो जाता है ॥ ६ ॥

कायवाङ्मानसं कर्म सर्वं सम्यक् परीक्ष्य यः ।
परात्महितमाज्ञाय सदा कुर्यात्स पण्डितः ॥ ७ ॥

सभी शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म की अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद जो अपने और दूसरे के हित को जानकर सदा कार्य करता है वही प्राज्ञ है ॥ ७ ॥

अहिंसा चौर्यविरतिः परदारविवर्जनम् ।
मिथ्यापैशुन्यपारुष्याबद्धवादेषु संयमः ॥ ८ ॥

अहिंसा; चोरी नहीं करना; परपत्नी से असम्पर्क; झूठ, चुगलखोरी, कठोरता और रूढ़िवादों से संयम करना ॥ ८ ॥

लोभव्यापादनास्तिक्य-दृष्टीनां परिवर्जनम् ।
एते कर्मपथा शुक्ला दश कृष्णा विपर्ययात् ॥ ९ ॥

लोभ, द्रोहचिन्तन और नास्तिकता की दृष्टि का त्याग—ये दश उज्ज्वल कर्ममार्ग हैं और इनके विपरीत दश दूषित मार्ग हैं ॥ ९ ॥

अमद्यपानं स्वाजीवोऽविहिंसादानमादरात् ।
पूज्यपूजा च मैत्री च धर्मश्चैष समासतः ॥ १० ॥

मद्य नहीं पीना, सम्यक् जीवन निर्वाह, अनिर्दयता, आदर से दान देना, पूज्य का सत्कार करना और सबके साथ मैत्रीभाव रखना—इन्हीं का एकत्रित रूप धर्म है ॥ १० ॥

शरीरतापनाद्धर्मः केवलान्नास्ति तेन हि।
न परद्रोहविरतिर्न परेषामनुग्रहः ॥ ११ ॥

शरीर को केवल सताने से ही धर्म नहीं होता है। इसलिए न तो (स्कन्ध आदि) सापेक्ष वस्तुओं के साथ द्वेषभाव को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए और न उन पर कृपा ही करनी चाहिए ॥ ११ ॥

दानशीलक्षमास्पष्टं यः सद्धर्ममहापथम्।
अनादृत्य व्रजेत् कायक्लेशगो दण्डकोत्पथैः ॥ १२ ॥

जो शरीर कष्ट देने वाला व्यक्ति दान, शील और क्षमा से प्रशस्त सच्चे धर्म (=बौद्ध धर्म) के महान् मार्ग का अनादर कर दण्ड के उन्मार्ग से चलता है ॥ १२ ॥

स ससाराटवीं घोरामनन्तजनपादपाम्।
क्लेशव्यालावलीढाङ्गः सुदीर्घं प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

वह क्लेशरूपी सर्प से अपने अंग को डँसवाता हुआ अनगिनत मनुष्य रूपी वृक्षों से युक्त संसार के निबिड जंगल में बहुत समय तक भटकता है ॥ १३ ॥

हिंसाया जायतेऽल्पायुः बह्वाबाधो विहिंसया।
चौर्येण भोगव्यसनी सशत्रुः[1] पारदारिकः ॥ १४ ॥

हिंसा से आयु घटती है और निर्दयता से अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं। चोरी से भोग में व्यसन होता है और परस्त्री के प्रति आसक्त व्यक्ति शत्रुवान् होता है ॥ १४ ॥

प्रत्याख्यानं मृषावादात् पैशुन्यान्मित्रभेदनम्।
अप्रियश्रवणं शैक्ष्यादपार्थाद्[2]दुर्भगं वचः ॥ १५ ॥

मिथ्याकथन से (सत्य का) निराकरण होता है, चुगलखोरी से

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'सश (त्रः)' पाठ है।

२. मि० वि० पी० संस्करण में (दबाद्धा)' पाठ भी है।

मित्रता टूटती है, रूखेपन से अनभिमत बात सुननी पड़ती है और निष्प्रयोजनता से दुर्भाग्यपूर्ण वचन निकलते हैं ॥ १५ ॥

मनोरथान् हन्त्यभिध्या व्यापादो भयदः स्मृतः ।
मिथ्या दृष्टिः कुदृष्टित्वं मद्यपानं मतिभ्रमः ॥ १६ ॥

लोभ मनोरथों को नष्ट करता है और द्रोह चिन्तन को भय देने वाला कहा गया है । मिथ्यादृष्टि ही कुत्सित दृष्टि है और मद्य सेवन से बुद्धि भ्रमित होती है ॥ १६ ॥

अप्रदानेन दारिद्र्यं मिथ्याजीवेन वञ्चना ।
स्तम्भेन दुष्कुलीनत्वमल्पौजस्कत्वमीर्ष्यया ॥ १७ ॥

दान नहीं करने से दरिद्रता होती है, दूषित वृत्ति से जीवन की वञ्चना होती है, जड़ता से दुष्कुलीनता के दुर्गुणों की सृष्टि होती है और ईर्ष्या से शक्ति क्षीण होती है ॥ १७ ॥

क्रोधाद् दुर्वर्णता मौर्ख्यमप्रश्नेन विपश्चिताम् ।
फलमेतन्मनुष्यत्वे सर्वेभ्यः प्राक् च दुर्गतिः ॥ १८ ॥

क्रोध से मलिनता आती है और विद्वानों से जिज्ञासा नहीं करने पर मूर्खता की सृष्टि होती है । मनुष्य भाव में यह ऐसा परिणाम है जिसके कारण सबसे पहले पतन होता है ॥ १८ ॥

एषामकुशलाख्यानां विपाको यः प्रकीर्तितः ।
कुशलानां च सर्वेषां विपरीतः फलोदयः ॥ १९ ॥

उपर्युक्त अशुभ कर्मों का जो परिणाम कहा गया है उसके विपरीत शुभ कर्मों की फलोत्पत्ति होती है ॥ १९ ॥

लोभो द्वेषश्च मोहश्च तज्जं कर्मेति चाशुभम् ।
अलोभामोहाद्वेषाश्च तज्जं कर्मेतरच्छुभम् ॥ २० ॥

लोभ, द्वेष, मोह और उनसे उत्पन्न कर्म अशुभ होते हैं । अलोभ, अद्वेष, अमोह और उनसे उत्पन्न कर्म शुभ होते हैं ॥ २० ॥

अशुभात्सर्वं दुखान्ति सर्वदुर्वातयस्तथा ।
शुभात्सुगतयः सर्वाः सर्वजन्म सुखानि च ।। २१ ।।

अशुभ से सभी दु:ख और सभी दुर्गतियाँ होती हैं। शुभ से सभी सुगतियाँ और जन्म के सभी सुख होते हैं ।। २१ ।।

निवृत्तिरशुभात्कृत्स्नात् प्रवृत्तिस्तु शुभे सदा ।
मनसा, कर्मणा, वाचा धर्मोऽयं द्विविधः स्मृतः ।। २२ ।।

मन, वचन और कर्म से अशुभ मात्र से निवृत्ति और शुभ में सदा प्रवृत्ति—यह दो प्रकार का धर्म कहा गया है ।। २२ ।।

नरकप्रेततिर्यंग्भ्यो धर्मादस्माद्विमुच्यते ।
नृषु देवेषु चाप्नोति सुखश्री राज्य-विस्तरान् ।। २३ ।।

इस धर्म के द्वारा नरक, प्रेत और तिर्यग्योनि से मुक्ति मिलती है और नरलोक तथा देवलोक में सुख एवं शोभा का विस्तृत राज्य मिलता है ।। २३ ।।

ध्यानप्रमाणरूप्यैस्तु · ब्रह्माद्यसुखमश्नुते ।
इत्यभ्युदयधर्मोऽयं फलं चास्य समासतः ।। २४ ।।

ध्यान और अपरचित आध्यात्मिक दृष्टिओं से ब्रह्मादि सुख की प्राप्ति होती है। यही अभ्युदय का धर्म और उसका समय फल हैं ।। २४ ।।

नैःश्रेयसः पुनर्धर्मः सूक्ष्मो गम्भीर-दर्शनः ।
[1]बालानामश्रोत्रवतामुक्तस्त्रासकरो जिनैः ।। २५ ।।

निःश्रेयस के लिए जो कर्त्तव्य है वह सूक्ष्म है और गहराई में प्रविष्ट होने पर देखा जा सकता है। इसलिए जिन मूर्खो ने बुद्ध वचन नहीं सुना है उनके लिए उसे भयावह कहा गया है ।। २५ ।।

नास्म्यहं न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति ।
इति बालस्य संत्रासः पण्डितस्य भयक्षयः ।। २६ ।।

१. मि० वि० पी० संस्करण का पाठ 'वासानां [अश्रोत्रवताम्] उक्त'.... है।

न मैं हूँ और न होऊँगा, न मेरा कुछ है और न होगा। इससे मूर्ख को भय होता है, किन्तु विद्वान् के भय का नाश हो जाता है ॥ २६ ॥

अहंकार-प्रसूतेयं ममकारोपसंहिता।
प्रजा प्रजा-हितैकान्तवादिनाभिहिताखिला ॥ २७ ॥

संसार के हित की एकान्त कामना की बात करने वाले (बुद्ध) ने मेरेपन की भावना से सम्बद्ध इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति 'मैं' की भावना से कही है ॥ २७ ॥

[1]अस्म्यहं मम चास्तीति मिथ्यैतत्परमार्थिभिः।
यथाभूतपरिज्ञानान्न भवत्युभयं यतः ॥ २८ ॥

'मैं हूँ' और 'मेरा है'––इसे परमार्थवेत्ताओं द्वारा मिथ्या कहा गया है, क्योंकि वस्तु स्थिति के यथार्थ ज्ञान से दोनों ही असिद्ध ठहरते हैं ॥ २८ ॥

अहंकारोद्भवाः स्कन्धाः सोऽहंकारोऽनृतोऽर्थतः।
बीज यस्यानृतं तस्य प्ररोहः सत्यतः कुतः ॥ २९ ॥

स्कन्ध अहंकार से उत्पन्न होते हैं और वह अहंकार वस्तुतः मिथ्या होता है। जिसका बीज असत्य है उसका अंकुर सत्य से कैसे हो सकता है? ॥ २९ ॥

स्कन्धानसत्यान् दृष्ट्वैव महंकारः प्रहीयते।
अहंकार-प्रहाणाच्च न पुनः स्कन्ध संभवः ॥ ३० ॥

इस प्रकार स्कन्धों को असत्य देखकर अहंकार का नाश हो जाता है और अहंकार के नष्ट होने से फिर स्कन्धों की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ३० ॥

यथादर्शमुपादाय स्वमुखप्रतिबिम्बकम्।
दृश्यते नाम तच्चैवं न किंचिदपि तत्त्वतः ॥ ३१ ॥

जैसे दर्पण को लेकर उसमें अपने मुँह का प्रतिबिम्ब देखा जाता है परन्तु वस्तुतः उस तरह का कुछ नहीं रहता है ॥ ३१ ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण का पाठ 'अस्त्यहं' है।

अहंकारस्तथा स्कन्धानुपादायोपलभ्यते ।
न च कश्चित्स तत्त्वेन स्वमुखप्रतिबिम्बवत् ।। ३२ ।।

उसी प्रकार स्कन्धों को लेकर अहंकार का अनुभव होता है किन्तु मुँख के प्रतिबिम्व के समान ही वह वस्तुतः कुछ नहीं होता है ।। ३२ ।।

यथादर्शमनादाय स्वमुखप्रतिबिम्बकम् ।
न दृश्यते तथा स्कन्धाननादायाहमित्यपि ।। ३३ ।।

जैसे दर्पण के नहीं रहने से अपने मुख का प्रतिविम्व नहीं देखा जाता है उसी प्रकार स्कन्धों के नहीं रहने से अहंकार भी (नहीं देखा जाता है) ।। ३३ ।।

एवंविधार्थं श्रवणाद्धर्मचक्षुरवाप्तवान् ।
आर्यानन्दः स्वयं चैव भिक्षुभ्योऽभीक्षणमुक्तवान् ।।३४।।

इस प्रकार के (अर्थ=) उपदेश को सुनकर आर्य आनन्द ने स्वयं धर्म की दृष्टि प्राप्त की और भिक्षुओं से शाश्वत धर्म को कहा ।।३४।।

स्कन्धग्राहो यावदस्ति तावदेवाहमित्यपि ।
अहंकारे सति पुनः कर्म जन्म ततः पुनः ।। ३५ ।।

जब तक स्कन्ध ग्रहण होता है तभी तक अहंकार भी रहता है । अहंकार के रहने से फिर कर्म होता है और उससे फिर जन्म होता है ।। ३५ ।।

त्रिवर्त्मैतदनाद्यन्तमध्यं संसारमण्डलम् ।
अलातमण्डलप्रख्यं भ्रमत्यन्योन्यहेतुकम् ।। ३६ ।।

आदि, अन्त एवं मध्य से हीन यह संसार-चक्र अलात-चक्र के समान एक दूसरे को हेतु वनाकर तीन मार्गों से भ्रमित होता है ।।३६।।

स्वपरोभयतस्तस्य त्रैकाल्यतोऽप्यप्राप्तितः ।
अहंकारः क्षयं याति ततः कर्म च जन्म च ।। ३७ ।।

अपने से अथवा अन्य से अथवा दोनों से ही तीनों कालों में अनुपलब्धि के कारण अहंकार क्षय को प्राप्त करता है । उसके अनन्तर कर्म का और फिर जन्म का क्षय हो जाता है ।। ३७ ।।

एवं हेतुफलोत्पादं पश्यंस्तत्क्षयमेव च ।
नास्तितामस्तितां चैव नैति लोकस्य तत्त्वतः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार हेतु और फल की उत्पत्ति और उनके नाश को देखकर तात्त्विक रूप से इस लोक के न तो भाव और न अभाव की प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

सर्वदुःखक्षयं धर्मं[1] श्रुत्वैवमपरीक्षकः ।
संकम्पत्यपरिज्ञानादभयस्थानकातरः ॥ ३९ ॥

सभी दुःखों के क्षयकारी ऐसे धर्म को सुनकर उसके वास्तविक ज्ञान के न रहने के कारण बिना किसी भय के रहते हुए भी अविवेकी पुरुष काँपने लगाता है ॥ ३९ ॥

न भविष्यति निर्वाणे सर्वमेतन्न ते भयम् ।
उच्यमान इहाभावस्तस्य ते किं भयंकरः ॥ ४० ॥

यह सब निर्वाण में नहीं होगा इसलिए तुम्हें डरना नहीं है । यहाँ उस (=भय) का अभाव कहा गया है तो फिर तुम्हारे लिए वह भयकारी कैसे हो सकता है ? ॥ ४० ॥

मोक्षेनात्मा न च स्कन्धा मोक्षश्चेदीदृशः प्रियः ।
आत्मस्कन्धापनयनं किमिहैव तवाप्रियम् ॥ ४१ ॥

मोक्ष में न आत्मा रहती है और न स्कन्ध रहते हैं; फिर भी मोक्ष यदि तुम्हें इतना प्यारा है तो इसी जीवन में आत्मा और स्कन्ध की हानि तुम्हें अच्छी क्यों लगती है ? ॥ ४१ ॥

न चाभावोऽपि निर्वाणं कुत [2]एवास्य भावता ।
भावभावपरामर्शक्षयो निर्वाणमुच्यते ॥ ४२ ॥

निर्वाण अभाव भी नहीं है, यह भाव कहाँ से होगा । भाव और अभाव के विचारों का उपशम निर्वाण कहा जाता है ॥ ४२ ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'धम' छपा है ।

२. मि० वि० पी० संस्करण में 'एव तस्य [वास्य] ....' पाठ है ।

समासान्नास्तितादृष्टिः फलं नास्तीति कर्मणः ।
अपुण्यापायिकी चैषा मिथ्यादृष्टिरिति स्मृता ।। ४३ ।।

वस्तुओं को समस्त रूप में देखने से ऐसी नास्तिता का भाव उत्पन्न होता है कि कर्मों के फल नहीं होते हैं। पाप और दुःख को उत्पन्न करने के कारण इसे मिथ्यादृष्टि कहा गया है ।। ४३ ।।

समासादस्तितादृष्टिः फलं चास्तीति कर्मणाम् ।
पुण्या सुगतिनिष्यन्दा सम्यग्दृष्टिरिति स्मृता ।। ४४ ।।

वस्तुओं को समस्त रूप में देखने से ही ऐसी अस्तिता का भाव पैदा होता है कि कर्मों के फल होते हैं। पुण्य एवं सुख को उत्पन्न करने के कारण इसे सम्यग् दृष्टि कहा गया है ।। ४४ ।।

ज्ञाने नास्त्यस्तिताशान्तेः पापपुण्यव्यतिक्रमः ।
दुर्गतेः सुगतेश्चास्मात् स मोक्षः सद्भिरुच्यते ।। ४५ ।।

ज्ञान में अस्तिता और नास्तिता की दृष्टि की शान्ति से पुण्य और पाप का विपर्यय होता है जिससे सुगति और दुर्गति का भी विपर्यय होता है। इसे ही सज्जन लोग मोक्ष कहते हैं ।। ४५ ।।

सहेतुमुदयं पश्यन् नास्तितामतिवर्तते ।
अस्तितामपि नोपैति निरोधं सह हेतुना ।। ४६ ।।

वस्तुओं की सहेतुक उत्पत्ति को देखकर नास्तिता का भाव अतिक्रमित हो जाता है और हेतु के साथ निरोध को देखकर अस्तिता का भी भाव प्राप्त नहीं होता है ।। ४६ ।।

प्राग्जातः सहजातश्च हेतुरहेतुकोऽर्थतः ।
प्रज्ञप्तेरप्रतीतत्वादुत्पत्तेश्चैव तत्त्वतः ।। ४७ ।।

इस प्रकार की प्रज्ञप्ति और उत्पत्ति के तात्त्विक रूप से प्रतीत न होने के कारण कार्य से पहले उत्पन्न होने वाला और कार्य के साथ-साथ उत्पन्न होने वाला कारण वस्तुतः कारण है ही नहीं ।। ४७ ।।

अस्मिन् सतीदं भवति दीर्घे ह्रस्वं यथा सति ।
तस्योत्पादादुदेतीदं दीपोत्पादाद्यथा प्रभा ॥ ४८ ॥

इसके रहने से यह होता है जैसे बड़े की अपेक्षा करके छोटा (होता है) । उसके उत्पन्न होने से इसका उदय होता है जैसे दीप के जलने से प्रकाश (होता है) ॥ ४८ ॥

ह्रस्वेऽसति पुनर्दीर्घं न भवति स्वभावतः ।
प्रदीपस्याप्यनुत्पादात्प्रभाया अप्यसंभवः ॥ ४९ ॥

छोटे के नहीं होने से स्वाभाविक रूप से बड़ा नहीं होगा जैसे दीपक के नहीं जलने से प्रकाश भी असम्भव है ॥ ४९ ॥

एवं हेतुफलोत्पादं दृष्ट्वा नोपैति नास्तिताम्[1] ।
अभ्युपेत्यास्य लोकस्य याथाभूत्यं प्रपञ्चजम् ॥ ५० ॥
निरोधं च प्रपञ्चोत्थं याथाभूत्यादुपागतम्[2] ।
नोपयात्यस्तितां तस्मान्मुच्यतेऽद्वयनिश्रितः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार कारण-कार्य की उत्पत्ति को देखकर नास्तिता की सिद्धि नहीं होती है । इस संसार के प्रपञ्च से उत्पन्न सत्य को जानकर और सत्य की अपेक्षा में प्रपञ्च के निरोध को प्राप्त कर अस्तिता की सिद्धि नहीं होती है । इससे अद्वय को निश्चित कर मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ५०–५१ ॥

दूरादालोकितं रूपमासन्नैर्दृश्यते स्फुटम् ।
मरीचिर्यदिवारिस्यादासन्नैः किं न दृश्यते ॥ ५२ ॥

दूर से देखा गया दृश्य निकटस्थ लोगों द्वारा अधिक स्पष्टता से देखा जाता है । मरीचिका यदि जल हो तो निकटस्थ लोगों को वैसा क्यों नहीं दीख पड़ता है ? ॥ ५२ ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'नास्तिक्यम्' पाठ भी है ।

२. मि० वि० पी० संस्करण में 'उपागत' पाठ है ।

दूरीभूतैर्यथाभूतो लोकोऽयं दृश्यते तथा।
न दृश्यते तदासन्नैरनिमित्तो मरीचिवत् ॥ ५३ ॥

इस संसार का यथार्थ रूप दूर से उसी प्रकार दिखाई देता है। बिना निमित्त का वह निकटस्थ लोगों को मरीचिका के समान नहीं दीखता है ॥ ५३ ॥

मरीचिस्तोयसदृशी यथा नाम्बु न चार्थतः।
स्कन्धास्तथात्मसदृशा नात्मानो नापि तेऽर्थतः ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार जल के समान मरीचिका जल नहीं है; वह वास्तव में कुछ नहीं है उसी प्रकार अपने प्रतीत होने वाले स्कन्ध न आत्मा होते हैं और न अपने में ही कुछ होते हैं ॥ ५४ ॥

मरीचिं तोयमित्येतदिति मत्वा गतोऽत्र सन्।
यदि नास्तीति तत्तोयं गृह्णीयान्मूढ़ एव सः ॥ ५५ ॥

यदि मरीचिका को जल मानकर कोई वहाँ जाए और यह पाए कि वह जल नहीं है तो वह मूर्ख ही है ॥ ५५ ॥

मरीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णतः।
नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते ॥ ५६ ॥

मरीचिका के समान संसार ऐसा है अथवा नहीं है, यही समझना मोह है। मोह के रहते मुक्ति नहीं हो सकती है ॥ ५६ ॥

नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिश्रितः ॥ ५७ ॥

नास्तिक बुरी गति को प्राप्त करता है और आस्तिक अच्छी गति का लाभ करता है। अद्वय के आश्रय से सम्पन्न व्यक्ति यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि करता है ॥ ५७ ॥

अनिच्छन् नास्तितास्तित्वे यथाभूतपरिज्ञया।
नास्तितां लभते मोहात् कस्मान्न लभतेऽस्तिताम् ॥५८॥

वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर नास्तिता और अस्तिता की इच्छा न करता हुआ भी जो कोई अज्ञान से नास्तिता की प्राप्ति करता है वह अस्तिता को ही क्यों नहीं प्राप्त करता ? ।। ५८ ।।

स्यादस्ति दूषणादस्य नास्तिताक्षिप्यतेऽर्थतः ।
नास्तितादूषणादेव कस्मान्नाक्षिप्यतेऽस्तिता ।। ५९ ।।

यदि अस्तिता के दोष के कारण उसका ग्रहण नहीं किया जाता है तो (इससे क्या हुआ ? क्योंकि) अर्थतः नास्तिता (भी अस्तिता से) आक्षिप्त हो ही जाती है। [इस प्रकार अस्तिता के दोष से नास्तिता भी सम्बद्ध हो ही जाती है।] तो फिर नास्तिता के ही दोष से अस्तिता क्यों नहीं आक्षिप्त हो ? ।। ५९ ।।

न प्रतिज्ञा न चरितं न चित्तं बोधिनिश्रयात् ।
नास्तिकत्वेऽर्थतो येषां कथं ते नास्तिका स्मृता ।।६० ।।

जिनके नास्तिकत्व के आशय में न कोई अभिमत है, न चरित्र है और न बोधिज्ञान पर आश्रित होने के कारण चित्त ही है, उन्हें नास्तिक कैसे कहा जाय ? ।। ६० ।।

ससांख्यौलूक्यनिर्ग्रन्थपुद्गलस्कन्धवादिनम् ।
पृच्छ लोकं यदि वदत्यस्ति नास्ति व्यतिक्रमम् ।। ६१ ।।

सांख्य, वैशेषिक, जैन और हीनयानी बौद्ध के अनुयायी से पूछो कि क्या कोई 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों के विपर्यय का प्रतिपादन करता है ? ।। ६१ ।।

धर्मयौतकमित्यस्मान्नास्त्वस्तित्वव्यतिक्रमम् ।
विद्धि गम्भीरमित्युक्तं बुद्धानां शासनामृतम् ।। ६२ ।।

धर्मसंश्रित होने के कारण 'अस्तित्व' और 'नास्तित्व' का विपरीत भाव निष्पन्न होता है। बौद्ध दर्शन के इस अमृत उक्ति को गम्भीर समझो ।। ६२ ।।

विभवं नेति[1] नायाति न तिष्ठत्यपि च क्षणम् ।
त्रैकाल्यव्यतिवृत्तात्मा लोक एव कुतोऽर्थतः ।। ६३ ।।

जो न नाश को प्राप्त करता है, न कहीं से आता है और न क्षण भर भी ठहरता है ऐसे तीनों कालों में निवृत्त संसार की सत्ता ही वस्तुतः कहाँ है ? ।। ६३ ।।

द्वयोरप्यागतिगती प्रस्थितिश्च न तत्त्वत ।
लोकनिर्याणयोस्तस्माद्विशेषः क इवार्थतः ।। ६४ ।।

संसार का आना जाना और स्थिति वस्तुतः नहीं है। इसलिए संसार में आने और इससे बाहर जाने, इन दोनों में कौन सा अन्तर है ? ।। ६४ ।।

स्थितेरभावादुदयो निरोधश्च न तत्त्वतः ।
उदितश्च स्थितश्चेति निरुद्धश्च कुतोर्थतः ।। ६५ ।।

वास्तविक उत्पत्ति हो सकती है और न उसका नाश ही हो सकता है। तो फिर उत्पन्न, स्थित और नष्ट का क्या अर्थ हो सकता है ? ।। ६५ ।।

कथमक्षणिको भावः परिणामः सदा यदि ।
नास्ति चेत्परिणामः स्यादन्यथात्वं कुतोऽर्थतः ।।६६।।

यदि सर्वदा परिणाम होते हों तो कोई वस्तु नित्य कैसे हो सकती है ? यदि परिणाम न हो तो फिर वास्तविक परिवर्त्तन कैसे होगा ? ।। ६६ ।।

एकदेशे क्षयाद्वा स्यात् क्षणिकं सर्वशोऽपि वा ।
वैषम्यानुपलब्धेश्च द्विधाप्येतदयुक्तिमत् ।। ६७ ।।

क्षणिकता आंशिक मानी जाए अथवा सम्पूर्ण रूप में, किन्तु दोनों ही स्थितियों में विषमता एवं अनुपलब्धि के कारण यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं ठहरती है ।। ६७ ।।

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'नति' छपा है ।

क्षणिके सर्वथा भावे कुतः काचित्पुराणता ।
स्थैर्यादक्षणिके चापि कुतः काचित्पुराणता ।। ६८ ।।

यदि प्रत्येक प्रकार से क्षणिकता मानी जाए तो किसी पुरानेपन की व्याख्या कैसे होगी ? स्थिरता के कारण यदि अक्षणिकता भी मानी जाए तो किसी पुरानेपन को व्याख्या कैसे होगी ? ।। ६८ ।।

यथान्तोऽस्ति क्षणस्यैवमादिर्मध्यं च कल्प्यताम् ।
त्र्यात्मकत्वात् क्षणस्यैवं न लोकस्य क्षणस्थितिः ।।६९।।

क्षण का जिस प्रकार अन्त मानते हैं उसी प्रकार उसकी आदि और मध्य भी मानिए। इस प्रकार क्षण का तीन भाग होने से संसार की क्षणिक स्थिति निष्पन्न नहीं होती है ।। ६९ ।।

आदिमध्यावसानानि चिन्त्यानि क्षणवत्पुनः ।
आदिमध्यावसानत्वं न स्वतः परतोऽपि वा ।। ७० ।।

फिर आदि, मध्य और अन्त का विश्लेषण क्षण के समान किया जा सकता है। आदि, मध्य और अन्त की सिद्धि न तो निरपेक्ष रूप से और न किसी अन्य वस्तु की ही अपेक्षा से हो सकती है ।। ७० ।।

नैकोऽनेक प्रदेशत्वान्नाप्रदेशश्च कश्चन ।
विनैकमपि नानेको नास्तित्वमपि चास्तिताम् ।। ७१ ।।

देशहीन कहीं नहीं है इसलिए अनेक प्रदेश के कारण उससे एकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है। फिर, विना एक के अनेक भी नहीं हो सकता है। उसी प्रकार अस्तिता के बिना उसकी नास्तिता की भी कल्पना नहीं की जा सकती है ।। ७१ ।।

विनाशात् प्रतिपक्षाद्वा स्यादस्तित्वस्य नास्तिता ।
विनाशः प्रतिपक्षो वा कथं स्यादस्त्यसंभवात् ।।७२।।

अस्तित्व की नास्तिता अस्तित्व के विनाश अथवा उसके प्रतिपक्षी भाव के रूप में समझी जा सकती है। परन्तु अस्तिता के असम्भव होने के कारण उसका विनाश अथवा प्रतिपक्ष क्या होगा ? ।। ७२ ।।

निर्वृतेस्तेन लोकस्य नोपैत्यूनत्वमर्थतः ।
अन्तवानिति लोकश्च पृष्टस्तूष्णीं जिनोऽभवत् ॥७३॥

परन्तु इससे संसार की वास्तविक निवृत्ति की हानि नहीं होती है । यह पूछे जाने पर कि क्या संसार का अन्त है ? बुद्ध ने चुप्पी साध ली ॥ ७३ ॥

सर्वज्ञ इति सर्वज्ञो बुधैस्तेनैव गम्यते ।
येनैतद्धर्मगाम्भीर्यं नोवाचाभाजने लोके[1] ॥ ७४ ॥

उन्होंने इस धर्म की गम्भीरता को प्राणियों के लोक में नहीं कहा । इसी से विद्वानों ने बुद्ध की सर्वज्ञता को समझा है ॥ ७४ ॥

इति नैःश्रेयसो धर्मो गम्भीरो निष्परिग्रहः ।
अनालय इति प्रोक्तः संबुद्धैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ७५ ॥

यह मोक्ष सम्बन्धी धर्म संगहीन और गम्भीर है । सम्यग्ज्ञान प्राप्त तत्वद्रष्टाओं ने इसे 'अनालय' कहा है ॥ ७५ ॥

अस्मादनालयाद्धर्मादालयाभिरता जनाः ।
अस्तिनास्तिव्यतिक्रान्ता भीता नश्यन्त्यमेधसः ॥ ७६ ॥

इस अनालय धर्म के द्वारा जो 'आलय' में आसक्त होते हैं ऐसे डरे हुए निर्बुद्धि लोग अस्तितता और नास्तितता में बँधे रहकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ७६ ॥

ते नष्टा नाशयन्त्यन्यानभयस्थानभीरवः ।
तथा कुरु यथा राजन् नष्टैर्न विप्रणाश्यसे ॥ ७७ ॥

बिना कारण के डरे हुए ये लोग स्वयं तो नष्ट होते ही हैं (साथ ही) दूसरों को भी नष्ट करते हैं । हे राजन्, ऐसे काम करो जिससे नष्ट हुए व्यक्तियों द्वारा स्वयं को नष्ट न होने दो ॥ ७७ ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण का 'लोके' पाठ छन्दोभंग के कारण अशुद्ध प्रतीत होता है ।

द्वितीयः परिच्छेदः

कदली पाटिता यद्वन्निःशेषावयवैः सह।
न किंचित् पुरुषस्तद्वत्पाटितः सह धातुभिः ॥ १ ॥

जिस प्रकार सभी अंगों के साथ उघारे जाने पर केले के थम्ह में कुछ नहीं बचता है उसी प्रकार धातुओं के साथ पुरुष का विश्लेषण करने पर उसमें कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है ॥ १ ॥

सर्वधर्मा अनात्मान इत्यतो भाषितं जिनैः।
धातुषट्कं च तैः सर्वं निर्णीतं तच्च नार्थतः ॥ २ ॥

इसलिए बुद्ध ने कहा कि सभी वस्तुएँ नैरात्म्य हैं। प्रतीत होनेवाली वस्तु छः धातुओं का एकत्रित रूप निश्चित की गई है किन्तु वे भी वस्तुतः कुछ नहीं हैं ॥ २ ॥

नैवमात्मा न चानात्मा याथाभूत्येन लभ्यते।
आत्मानात्मकृते दृष्टी ववारास्मान् महामुनिः ॥ ३ ॥

पारमार्थिक ज्ञान से न तो आत्मा की उपलब्धि होती है और न अनात्मा की। इसलिए महामुनि (बुद्ध) ने हमें आत्मदृष्टि और अनात्मदृष्टि इन दोनों से वारित किया ॥ ३ ॥

दृष्टश्रुताद्यं मुनिना न सत्यं न मृषोदितम्।
पक्षाद्धि प्रतिपक्षः स्यादुभयं तच्च नार्थतः ॥ ४ ॥

देखी गई और सुनी गई बात को मुनि ने न सत्य कहा और न मिथ्या। पक्ष से प्रतिपक्ष का उदय होता है किन्तु दोनों की ही कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती है ॥ ४ ॥

इति सत्यानृतातीतो लोकोऽयं परमार्थतः।
अस्मादेव च तत्त्वेन नोपैत्यस्ति च नास्ति च ॥ ५ ॥

इसलिए यह संसार पारमार्थिक दृष्टि से सत्य और मिथ्या के परे

है। इसी से तत्त्वतः अस्तित्व और नास्तित्व की प्राप्ति नहीं होती है ।। ५ ।।

यच्चैवं सर्वथा नेति सर्वज्ञस्तत्कथं वदेत् ।
सान्तमित्यथवानन्तं द्वयं वाद्वयमेव वा ।। ६ ।।

यदि ऐसा हर तरह से सत्य नहीं होता तो सर्वज्ञ ऐसा क्यों कहते कि यह संसार सान्त अथवा अनन्त, द्वैत अथवा अद्वैत है ? ।। ६ ।।

असंख्येया गता बुद्धास्तथैष्यन्त्यथ सांप्रताः ।
कोट्यग्रशश्च सत्त्वान्तस्तेभ्यस्त्रैकाल्यजो मतः ।। ७ ।।

अनगिनत बुद्ध हो गये हैं और अभी अनगिनत होने वाले हैं। उनसे करोड़-करोड़ जीव तीनों कालों में होते हुए कहे गये हैं ।। ७ ।।

वृद्धिहेतुर्न लोकस्य क्षयस्त्रैकाल्यसंभवः ।
सर्वज्ञेन कथं तस्य पूर्वान्तोऽव्याकृतः कृतः ।। ८ ।।

तीनों कालों में होने वाला क्षय इस लोक की वृद्धि का कारण नहीं है। तब फिर सर्वज्ञ ने इसकी आदि और अन्त को अव्याख्येय कैसे बताया ? ।। ८ ।।

एतत्तु धर्मगाम्भीर्यं[1] यत्तद्गुह्यं पृथग्जने ।
मायोपमत्वं लोकस्य बुद्धानां शासनामृतम् ।। ९ ।।

यह जो धर्म की गम्भीरता है वह साधारण लोगों से छिपी हुई है। बुद्धों का वास्तविक अमृतोपम उपदेश है कि संसार माया के समान है ।। ९ ।।

मायाराजस्य दृश्येत यथा जन्मान्त एव च ।
न च कश्चित्स तत्त्वेन जन्मान्तश्चैव विद्यते ।। १० ।।

जैसे माया के हाथी के जन्म और मरण देखे जाते हैं परन्तु वस्तुतः वह कोई जन्म-मरण नहीं होता है ।। १० ।।

मायोपमस्य लोकस्य तथा जन्मान्त एव च ।
दृश्यते परमार्थेन न च जन्मान्त एव च ।। ११ ।।

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'गम्भीय' अशुद्ध पाठ छपा है।

उसी प्रकार माया के समान संसार का जन्म और नाश देखा जाता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जन्म और नाश नहीं होता है ॥ ११ ॥

यथा मायागजो नैति कुतश्चिद्याति न क्वचित् ।
चित्तमोहनमात्रत्वाद्भावत्वेन न तिष्ठति ॥ १२ ॥

जिस प्रकार माया का हाथी न तो कहीं से आता है और न कहीं जाता ही है, चित्त के संमोहन मात्र से प्रतीत होता है और विचारने पर नहीं ठहरता है ॥ १२ ॥

तथा मायोपमो लोको नैति याति न कुत्रचित् ।
चित्तमोहनमात्रत्वाद्भावत्वेन न तिष्ठति ॥ १३ ॥

उसी प्रकार माया के समान यह संसार न तो आता है और न कहीं जाता है । चित्त के संमोहन मात्र से यह प्रतीत होता है और विचारने पर नहीं ठहरता है ॥ १३ ॥

त्रैकाल्य[1]व्यतिवृत्तात्मा लोक एवं नु कोऽर्थतः ।
योऽस्ति नास्त्यथवापि स्यादन्यत्र व्यवहारतः ॥ १४ ॥

जो लोक तीनों कालों में नहीं है वह वस्तुतः हो ही कैसे सकता है। जो है अथवा नहीं है, वह तो केवल व्यावहारिक दशा में प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

चतुष्प्रकारमित्यस्मात् सान्तो[2]ऽनन्तो द्वयोऽद्वयः ।
बुद्धेन हेतोर्नान्यस्मादयमव्याकृतः कृतः ॥ १५ ॥

इस प्रकार यह सान्त, अनन्त, द्वैत और अद्वैत—इन चार प्रकारों का है । किसी अन्य कारण से बुद्ध ने इसे अव्याख्येय नहीं किया ॥१५॥

शरीराशुचिता तावत् स्थूलाप्रत्यक्षगोचरा ।
सततं दृश्यमानापि यदा चित्तं[3] न तिष्ठति ॥ १६ ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'त्रकाल्य' पाठ छपा है ।
२. मि० वि० पी० संस्करण में 'शान्तो....' पाठ छपा है ।
३. मि० वि० पी० संस्करण में 'चित्त' पाठ छपा है ।

जब तक चित्त स्थिर नहीं होता तब तक सर्वदा प्रत्यक्ष रूप में वर्त्तमान रहती हुई भी शरीर की स्थूल अपवित्रता बनी रहती है ॥ १६ ॥

तदातिसूक्ष्मो गम्भीरः सद्धर्मोऽयमनालयः ।
अप्रत्यक्षः कथं चित्ते सुखेनावतरिष्यति ॥ १७ ॥

तब फिर अति सूक्ष्म, गम्भीर, अनालय और अप्रत्यक्ष यह धर्म सहज रूप से चित्त में कैसे उतर सकेगा ? ॥ १७ ॥

संबुध्यास्मान्निवृत्तोऽभूद्धर्मं देशयितुं मुनिः ।
दुर्ज्ञानमतिगाम्भीर्याद् ज्ञात्वा धर्ममिवं जनैः ॥ १८ ॥

अति गम्भीरता के कारण इस धर्म को लोगों के द्वारा अत्यन्त कठिनता से जानने योग्य समझकर संबोधि प्राप्ति के बाद इस धर्म का उपदेश देने से बुद्ध निवृत्त हो गये थे ॥ १८ ॥

विनाशयति दुर्ज्ञातो धर्मोयमविपश्चितम् ।
नास्तितादृष्टिसमले यस्मादस्मिन्निमज्जति ॥ १९ ॥

क्योंकि नास्तिता की दृष्टि से कलुषित होकर (इसमें) प्रवेश करने से यह दूषित रूप में जाना गया धर्म अविद्वान् पुरुष का नाश कर डालता है ॥ १९ ॥

अपरोऽप्यस्य दुर्ज्ञानान्मूर्खः पण्डितमानिकः ।
प्रतिक्षेपविनष्टात्मा यात्यवीचिमधोमुखः ॥ २० ॥

तिरस्कार की भावना से जिसकी आत्मा हत हो गई है ऐसा कोई दूसरा भी अपने को पण्डित मानने वाला मूर्ख इसके विपरीत ज्ञान से अवीचि नामक नरक में अधः पतित होता है ॥ २० ॥

दुर्भुक्तेन यथान्नेन विनाशमधिगच्छति ।
सुभुक्तेनायुरारोग्यं बलं सौख्यानि चाश्नुते ॥ २१ ॥

जिस प्रकार विषम रूप से खाए गये अन्न के द्वारा कोई विनाश को प्राप्त करता है और सुचारु रूप से खाए गये अन्न से आयु, आरोग्य, बल और सौख्य को प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

दुर्ज्ञातेन तथानेन विनाशमधिगच्छति ।
सम्यग्ज्ञाते नात्र सुखं बोधिं चाप्नोत्यनुत्तराम् ॥ २२ ॥

उसी प्रकार इस धर्म के दोषपूर्ण ज्ञान से विनाश को प्राप्त करता है और उसके सम्यग्ज्ञान से इस लोक में सुख और उसके अनन्तर परम ज्ञान को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

तस्मादत्र प्रतिक्षेपं दृष्टिं त्यक्त्वा च नास्तिकीम् ।
सम्यग्ज्ञानपरं यत्नं कुरु सर्वार्थसिद्धये ॥ २३ ॥

इसलिए इसमें तिरस्कार का भाव और नास्तिकता की दृष्टि को छोड़कर सभी वस्तु की सिद्धि के लिए धर्म के वास्तविक ज्ञान की चेष्टा करो ॥ २३ ॥

धर्मस्यास्यापरिज्ञानादहंकारोऽनुवर्तते ।
ततः शुभाशुभं कर्म ततो जन्म शुभाशुभम् ॥ २४ ॥

इस धर्म के व्यापक ज्ञान नहीं होने से अहंकार बना रहता है। उससे अच्छा-बुरा कर्म होता है जिससे अच्छा-बुरा जन्म होता है ॥ २४ ॥

तस्माद्यावदविज्ञातो धर्मोहंकारशांतनः ।
दानशीलक्षमाधर्मे तावदादरवान् भव ॥ २५ ॥

इसलिए जब तक अहंकार को नष्ट करने वाले इस सद्धर्म का पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक दान, शील और क्षमा के कर्त्तव्यों में आदर बुद्धि रक्खो ॥ २५ ॥

धर्मपूर्वाणि कार्याणि धर्ममध्यानि पार्थिव ।
साधयन् धर्मनिष्ठानि नेह नामुत्र सीदति ॥ २६ ॥

हे राजन्, कोई व्यक्ति धर्म लक्षित कार्यों का यों सम्पादन करता हुआ कि वे आदि और मध्य में भी धर्म के अनुकूल हों, न इस लोक में और न परलोक में ही कष्ट पाता है ॥ २६ ॥

धर्मात्कीर्त्तिः सुखं चैव नेहभीर्न मुमूर्षता[1]।
परलोकसुखं स्फीतं तस्माद्धर्मं सदा भज ॥ २७ ॥

धर्म से यश और सुख होता है और इस संसार में न भय रहता है और न मरणेच्छा होती है। इससे परलोक-सुख (का मार्ग) प्रशस्त होता। इसलिए धर्म का सर्वदा वरण करो ॥ २७ ॥

धर्म एव परा नीतिर्धर्माल्लोकोऽनुरज्यते।
रञ्जितेन हि लोकेन नेह नामुत्र वञ्च्यते ॥ २८ ॥

धर्म सबसे बड़ी नीति है। धर्म से प्रजा सुखी होती है। प्रजा के सुखी होने से (राजा) इस लोक और परलोक में ठगा नहीं जाता है ॥ २८ ॥

अधर्मेण तु या नीतिस्तया लोकोऽपरज्यते।
लोकापरञ्जनाच्चैव नेह नामुत्र नन्दति ॥ २९ ॥

अधर्म से जो नीति बनती है उससे प्रजा दुःखी होती है। प्रजा के दुःखी रहने से (राजा) न इस लोक में और न परलोक में ही आनन्द प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

परातिसंधानपरा कष्टा दुर्गतिपद्धतिः।
अनर्थविद्या दुष्प्रज्ञैरर्थविद्या कथं कृता ॥ ३० ॥

दूसरों को पीड़ित करनेवाले दुःखद स्थिति में लाने के उपाय कष्ट-कारक होते हैं। दुर्बुद्धियों ने अनुचित करनेवाली विद्या को सार्थक विद्या के रूप में कैसे अपनाया ? ॥ ३० ॥

परातिसंधानपरो नीतिमान् कथमर्थतः।
येन जन्मसहस्राणि बहून्यात्मैव वञ्च्यते ॥ ३१ ॥

जो परपीडक व्यक्ति अनेक सहस्र जन्म के लिए अपने को ही ठगता है वह वस्तुतः नीति का ज्ञाता कैसे हो सकता है ॥ ३१ ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'मुमूर्षतः' छपा है।

रिपोरप्रियमन्विच्छन् दोषांस्त्यक्त्वा गुणान् श्रय ।
स्वहितावाप्तिरेवं तु रिपोश्चाप्यप्रियं भवेत् ।।३२।।

यदि शत्रु की बुराई चाहते हो तो दोषों को छोड़कर गुणों का आश्रय लो। इससे अपने हित की प्राप्ति होगी और यह तुम्हारे शत्रु को भी बुरी लगेगी। ॥ ३२ ॥

दानेन प्रियवद्येन हितेनैकार्थचर्यया ।
एभिराचरलोकस्य धर्मस्यैव च संग्रहम् ।। ३३ ।।

प्रियवचन के साथ दान से और दूसरों के हित को एकमात्र विषय बनाए हुए आचरण से व्यवहार करते हुए लोकसंग्रह और धर्मसंग्रह करो ।। ३३ ॥

विश्वासं जनयत्येकं सत्यं राज्ञां यथा दृढम् ।
तथैवाभूतमप्येषामविश्वासकरं परम् ।। ३४ ।।

जिस प्रकार राजाओं का एक सत्य दृढ़ विश्वास उत्पन्न करता है उसी प्रकार उनका उसका अभाव (=असत्य) बहुत बड़े अविश्वास का भी जन्म देता है ।। ३४ ।।

नाविसंवादवत्सत्यं [सत्त्वे] उद्गतमर्थतः ।
परैकान्तहितं सत्यमहितत्वान्मृषेतरत् ।। ३५ ।।

यथार्थकथन के समान कोई अन्य सत्य प्राणी (के हृदय) में उत्पन्न नहीं होता है (परन्तु) वस्तुतः सत्य वह है जिससे दूसरे का एकान्त हित होता हो। अहित होने के कारण अन्य असत्य हैं ।। ३५ ।।

दोषान् प्रच्छादयत्येकस्त्यागो राज्ञां यथोज्ज्वलः ।
तथा कार्पण्यमप्येषां गुणसर्वस्वघातकम् ।।३६।।

जिस प्रकार एक त्याग का प्रशस्त गुण राजाओं के दोषों को ढँक लेता है उसी प्रकार उनकी कृपणता भी उनके सभी गुणों को नष्ट कर देती है ।। ३६ ।।

उपशान्तस्य गाम्भीर्यं गाम्भीर्याद्गौरवं परम् ।
गौरवाद्दीप्तिराज्ञा च तस्मादुपशमं भज ।। ३७ ।।

जिसके राग उपशमित हो गये हैं उसमें गम्भीरता आ जाती है। गम्भीरता से अत्यन्त गौरव की उपलब्धि होती है। गौरव से दीप्ति और उससे आज्ञा (पालन की प्रवृत्ति) होती है। इसलिए रागों के उपशम को अपनाओ ।। ३७ ।।

अहार्यबुद्धिः प्राज्ञत्वादपरप्रत्ययः स्थिरः।
नातिसन्धीयते राजा तस्मात्प्रज्ञापरो भव ।। ३८ ।।

तत्वज्ञान से राजा दूसरों पर विश्वास करके कुछ नहीं करता है, अचंचल होता है, दूसरे का हरण नहीं करता है और परपीड़न नहीं करता है। इसलिए तत्त्वज्ञान से लाभ के लिए प्रयत्न करो ।। ३८ ।।

सत्यत्यागशमप्रज्ञो चतुर्भद्रो नराधिपः।
धर्मश्चतुर्भद्र इव स्तूयते देवमानुषैः ।। ३९ ।।

सत्य, त्याग, शम और प्रज्ञा के चार गुणों से समन्वित राजा चतुर्वर्ग धर्म के समान देवता और मनुष्यों द्वारा आधारित होता है ।। ३९ ।।

निगृह्यवादिभिः शुद्धैः प्रज्ञाकारुण्यनिर्मलैः।
सहासीनस्य सततं प्रज्ञा धर्मश्च वर्धते ।। ४० ।।

प्रज्ञा एवं करुणा से स्वच्छ आत्म-संयमी पवित्र व्यक्तियों के सम्पर्क से तत्वज्ञान एवं धर्म की सर्वदा वृद्धि होती है ।। ४० ।।

दुर्लभाः पथ्यवक्तारः श्रोतारस्त्वतिदुर्लभाः।
तेभ्योऽतिदुर्लभतमा ये पथ्यस्याशुकारिणः ।। ४१ ।।

हित कहने वाले व्यक्ति कठिनता से मिलते हैं। उससे भी अधिक कठिनता से हित वचन को सुननेवाले मिलते हैं। (परन्तु) उनसे भी अधिक कठिनता से ऐसे लोग मिलते हैं जो शीघ्रता से हितवचन को करने वाले होते हैं ।। ४१ ।।

पथ्यमप्यप्रियं तस्माज्ज्ञात्वा शीघ्रं समाचर।
पिबेदौषधमप्युग्रमारोग्यायात्मवानिव ।। ४२ ।।

इसलिए अप्रिय भी लगे तो हितकारक जानकर (इसके अनुसार) शीघ्र आचरण करो। तीखा भी लगे तब भी आरोग्यलाभ के लिए अपना अनुकूल-सा समझकर औषध को पी लेना चाहिए ।। ४२ ।।

जीवितारोग्यराज्यानां चिन्तयानित्यतां सदा।
ततः संवेगवान् धर्ममेकान्तेन प्रयास्यसे ।। ४३ ।।

जीवन, आरोग्य और राज्य की चिन्ता से सर्वदा अनित्यता की स्थिति को (प्राप्त करोगे) और तब एकान्तरूप से उत्कंठित होकर धर्म को प्राप्त करोगे ।। ४३ ।।

अवश्यं मरणं पश्यन् पापाद् दुःखं मृतस्य च।
ऐहिकेन सुखेनापि न पापं क्षातुमर्हसि ।। ४४ ।।

मरण को और मरे हुए के पाप से दुःख को अवश्यम्भावी देखकर इस लोक के सुख के भी द्वारा पाप का क्षय नहीं कर सकते हो ।। ४४ ।।

कस्मिंश्चेदभयं दृष्टं भयं दृष्टं क्वचित्क्षणे।
यथेकस्मिन् समाश्वासः किमेकस्मिन्न ते भयम् ।। ४५ ।।

किसी में यदि अभय देखा भी जाता है तो (उसी में) किसी क्षण में भय भी देखा जाता है। यदि किसी एक क्षण में तुम आश्वस्त रहते हो तो किसी एक (=दूसरे) क्षण में भीत नहीं रहते हो ? ।। ४५ ।।

मद्यात्परिभवो लोके कार्यहानिर्धनक्षयः।
अकार्यकरणं मोहात् मद्यं त्यज ततः सदा ।। ४६ ।।

मद्य से संसार में दुःख होता है, कार्य की हानि होती है, धन का नाश होता है और प्रमत्ततावश अनुचित कार्य किया जाता है। इसलिए मद्य का सर्वदा त्याग करो ।। ४६ ।।

●

[रत्नावली में दूसरा परिच्छेद]

४

अधर्मम[1]न्याय्यमपि प्रायो राजानुजीविभिः ।
आचरन् स्तूयते तस्मात् कृच्छ्राद्वेत्ति क्षमाक्षमम् ॥ १ ॥

अधर्म और अन्याय का भी आचरण करता हुआ राजा अपने आश्रितों द्वारा प्रशंसित होता है इसलिए वह क्षमा के हित को कष्ट से समझता है ॥ १ ॥

अन्योऽपि तावद्यः कश्चिद् दुर्वचः क्षममप्रियम् ।
किमु राजा महाभौमस्त्वं मया भिक्षुणा सता ॥ २ ॥

और भी कितने परुषवचनवाले अप्रिय शक्तिशाली लोग हैं, परन्तु मुझ भिक्षु के रहते तुम सार्वभौम राजा वैसा कैसे हो सकते हो ? ॥ २ ॥

त्वत्कृतादेव तु स्नेहाज्जगतामनुकम्पया ।
अहमेको वदामि त्वां पथ्यमप्यप्रियं भृशम् ॥ ३ ॥

तुम्हारे ही स्नेह से संसार पर कृपा करता हुआ मैं एक तुम्हें अप्रिय भी लगे तो अतिशय हित की वात कहता हूँ ॥ ३ ॥

सत्यं श्लक्ष्णार्थवत्पथ्यं शिष्यः कालेऽनुकम्पया ।
वाच्य इत्याह भगवांस्तदेवमभिधीयसे ॥ ४ ॥

भगवान् ने कहा था कि उपयुक्त समय पर कृपाकर शिष्य को सत्य, स्नेह युक्त एवं हितकारी बात कहनी चाहिए। इसलिए तुम्हें यह कही जा रही है ॥ ४ ॥

अक्रोधे सत्यवाक्ये च श्लाघ्यमानो यदि स्थितः ।
श्रव्यं सपरिगृह्णीयात् सत्तोयं स्नाप्यमानवत् ॥ ५ ॥

---

१. मि० वि० पी० के संस्करण में 'अधर्ममन्वाय्यमपि' छपा है।

यदि क्रोध हीनता की स्थिति और सत्यवाक्य में प्रशंसित होकर स्थिर हो तो तुम्हें इस सुनने योग्य बात को उसी प्रकार सम्पूर्ण रूप से अपनाते हुए ग्रहण करना चाहिए जिस प्रकार स्नान करवाता हुआ कोई व्यक्ति स्वच्छ-शीतल जल का ग्रहण करता है ॥ ५ ॥

तस्य मे वदतो वाक्यं त्वमिहामुत्र च क्षमम् ।
ज्ञात्वा कुरु हितायेदमात्मनो जगतोऽपि च ॥ ६ ॥

मेरे द्वारा कहे गये उन (=बुद्ध) के वचन का तुम इहलोक और परलोक दोनों के लिए अधिकारी हो । इसे जानकर तुम अपने और संसार के हित के लिए कार्य करो ॥ ६ ॥

याचकेभ्यः पुरा दानात् प्राप्यार्थांश्चेन्न दास्यसि ।
अकृतज्ञत्वलोभाभ्यां नार्थान् पुनरवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

पूर्व के दान से प्राप्त धन को यदि याचकों को (सद्यः) नहीं दे दोगे तो अकृतज्ञता और लोभ के कारण धन की फिर से प्राप्ति नहीं कर पाओगे ॥ ७ ॥

इह पथ्यदनं लोके न वहत्यभृतो भृतः ।
याचकस्त्वभृतोऽमुत्र हीनः शतगुणोद्वहः ॥ ८ ॥

इस संसार में जो (वेतनभोगी) सेवक नहीं होता वह सेवक बनकर मार्ग में किसी के भोग (सामग्री) को नहीं ढोता है । परन्तु दुःखी याचक सेवक नहीं होता हुआ भी परलोक में सौगुनें भोग (सामग्री) को ढोता है ॥ ८ ॥

उदारचित्तः सततं भवोदारक्रियारतः ।
उदारकर्मणः सर्वमुदारं जायते फलम् ॥ ९ ॥

उदार चेता होकर सर्वदा उदार कार्यों में लगे रहो । उदार कर्म के सभी फल उदार होते हैं ॥ ९ ॥

मनोरथैरपि क्लीवैरनालीढं नराधिपैः ।
कुरु धर्मास्पदं श्रीमत्ख्यातं रत्नत्रयास्पदम् ॥ १० ॥

नपुंसक राजगण मनोरथों से भी जिसकी क्षति नहीं पहुँचा सके हैं ऐसे तीनों रत्नों के आश्रय को श्रीमान् (=बुद्ध) द्वारा कथित धर्म का स्थान बनाओ ॥ १० ॥

सामन्तराजरोमाञ्च करं धर्मास्पदं न यत् ।
मृतस्याप्यप्रशस्यत्वाद् राजंस्तदकृतं वरम् ॥ ११ ॥

सामन्त और राजाओं को रोमाञ्चित करने वाला जो धर्म का आश्रय नहीं है, वह मरे हुए के लिए भी हेय है । इसलिए, हे राजन् ! उसे न करना अच्छा है ॥ ११ ॥

अत्यौदार्यादुदाराणां विस्मयोत्साहवर्धनम् ।
उत्साहघ्नं च मन्दानां सर्वस्वेनापि कारय ॥ १२ ॥

अत्यन्त उदारता के द्वारा उदार व्यक्तियों के उत्साह को खूब बढ़ाओ । मूर्खों के उत्साह की हानि सब कुछ अर्पित करके भी करवाओ ॥ १२ ॥

उत्सृज्यामुत्र गन्तव्यं सर्वस्वमवशेन ते ।
धर्मे नियुक्तं यात्येव पुरस्तात्सर्वमेव तत् ॥ १३ ॥

तुम्हारे बिना वश के सब कुछ छोड़कर तुम्हें परलोक जाना है । (परन्तु) धर्म में जो लगाओगे वह सब तुम्हारे आगे-आगे जाएगा ही ॥ १३ ॥

सर्वस्वं पूर्वनृपतेर्नृपस्य वशमागतम् ।
किं पूर्वकस्य धर्माय सुखाय यशसेऽपि वा ॥ १४ ॥

अतीतकाल के राजा का सारा धन वर्तमानकाल के राजा के वश में आ गया । क्या पहले के राजा का धन उसके धर्म, सुख या यश के लिए भी हुआ ? ॥ १४ ॥

भुक्तादर्थादिह सुखं दत्तात्पारत्रिकं सुखम् ।
अभुक्तादत्तनष्टत्वाद् दुःखमेव कुतः सुखम् ॥ १५ ॥

भोग किए हुए धन से इस लोक में सुख होता है और दान किए हुए धन से परलोक में सुख होता है । जिसका भोग नहीं किया गया,

जो नहीं दिया गया अथवा जो नष्ट हो गया, उससे दुःख ही होता है।
उससे सुख कहाँ ? ॥ १५ ॥

विनश्यन् सचिवैर्दातुमस्वातन्त्र्यान्न शक्यसि।
आपत्ति[1]च्छेदनिःस्नेहैर्नवराजप्रियैषिभिः ॥१६॥

नष्ट होने के समय विपत्ति को हटाने के लिए तुम्हारे प्रति स्नेह-हीन होकर नये राजा की अनुकूलता की इच्छा करते हुए मन्त्रियों द्वारा देने की पराधीनता के कारण तुम दान नहीं कर पाओगे ॥ १६ ॥

सर्वस्वेनाप्यतः स्वस्थः शीघ्रं धर्मास्पदं कुरु।
मृत्युप्रत्ययमध्यस्थः प्रवातस्थप्रदीपवत् ॥१७॥

इसलिए सब कुछ देकर भी निश्चिन्त होकर धर्म का शीघ्रता से आश्रय लो (क्योंकि) मृत्यु के कारणों के बीच तुम आँधी में रक्खे हुए दीपक के समान हो ॥ १७ ॥

धर्माधिकारा ये चान्ये पूर्वराजप्रवर्तिताः।
देवद्रोण्यादयस्तेऽपि प्रवर्त्यन्तां यथास्थिताः ॥ १८ ॥

पूर्व के राजाओं ने धर्म के जो अधिकार नियमित किए थे और देवताओं के निमित्त कोश की व्यवस्था की थी उन्हें उसी रूप में रखकर चलाओ ॥ १८ ॥

अहिंसकैः शुभाचारैर्व्रतस्थैरतिथिप्रियैः।
सर्वक्षमैरकलहैर्भज्येरंस्तैः सदोद्यतैः ॥ १९ ॥

जो अहिंसक हों, शुभ आचरणवाले हों, व्रती हों, अभ्यागत का आदर करते हों, क्षमाशील हों और झगड़े से दूर रहते हों—ऐसे लोगों को तत्परतापूर्वक प्रश्रय दो ॥ १९ ॥

अन्धव्याधितहीनाङ्गदीनानाथवनीयकाः[2] ।
तेप्यन्नपानं साम्येन लभेरन्न विघट्टिताः ॥ २० ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'आपति' छपा है।

२. मि० वि० पी० संस्करण में 'वनीपक' छपा है।

जो अन्धे, रोगी, विकलाङ्ग, दीन और अनाथ याचक हों वे भी अवियुक्त होकर समता से अन्न-पान पावें ॥ २० ॥

अनर्थानामपि सतां धार्मिकाणामनुग्रहान् ।
अप्यन्यराज्यसंस्थानामनुरूपान् प्रवर्तय ॥ २१ ॥

दूसरे राज्य में भी रहने वाले यदि धार्मिक सज्जन पुरुष हों तो विना प्रयोजन भी उनके अनुरूप उन पर कृपा का व्यवहार करो ॥२१॥

सर्वधर्माधिकारेषु धर्माधिकृतमुत्थितम् ।
अलुब्धं पण्डितं धर्म्यं कुरु तेषामबाधकम् ॥ २२ ॥

सभी धर्म के अधिकारों में उनकी बाधा को दूर करने के लिए जागरूक, अलोभी, पण्डित और धर्मनिष्ठ धर्माधिकृत की नियुक्ति करो ॥ २२ ॥

नीतिज्ञान् धार्मिकान् स्निग्धान् शुचीन् भक्तानकातरान् ।
कुलीनान् शीलसंपन्नान् कृतज्ञान् सचिव कुरु ॥२३॥

नीतिज्ञ, धार्मिक, मधुर स्वभाव वाले, पवित्र, भक्त, निर्भय, कुलीन, शीलवान और कृतज्ञ मन्त्रियों को रक्खो ॥ २३ ॥

अक्षुद्रांस्त्यागिनः शूरान् स्निग्धान् संभोगिनः स्थिरान् ।
कुरु नित्याप्रमत्तांश्च धार्मिकान् दण्डनायकान् ॥२४॥

ऐसे लोगों को दण्डाधिकारी बनाओ जो नीच न हों, त्यागी, शूर, स्नेहस्वभाव वाले, सामाजिक, अचंचल, सदा स्थिर बुद्धि वाले और धार्मिक हों ॥ २४ ॥

धर्मशीलान् शुचीन् दक्षान् कार्यज्ञान् शास्त्रकोविदान् ।
कृतवृत्तीन् समान् स्निग्धान् वृद्धानधिकृतान् कुरु ॥२५॥

ऐसे लोगों को आय-व्यय का अवेक्षक बनाओ जो धर्मशील, पवित्र, निपुण, कार्य का ज्ञान रखने वाले, शास्त्रों में निपुण, जीविका प्राप्त, सन्तुलित चित्त और मधुर स्वभाव वाले तथा अनुभवी हों ॥ २५ ॥

प्रतिमासं च तेभ्यस्त्वं सर्वमायव्ययं शृणु ।
श्रुत्वा धर्माधिकाराद्यं कार्यं सर्वं स्वयं वद ॥ २६ ॥

उन सबों से तुम प्रत्येक महीने में आय-व्यय का लेखा-जोखा सुना करो। सब सुनकर धर्माधिकार आदि के सारे कार्य स्वयं कहो ॥२६॥

धर्मार्थं यदि ते राज्यं न कीर्त्यर्थं न कामतः।
ततः सफलमत्यर्थमनर्थार्थमतोऽन्यथा ॥ २७ ॥

यदि तुम्हारा राज्य कीर्त्ति और कामना (पूर्त्ति) के लिए नहीं बल्कि धर्म के लिए है, तभी इसकी पूरी सफलता जानो, नहीं तो यह अनर्थ के लिए है ॥ २७ ॥

परस्परामिषीभूते लोकेऽस्मिन् प्रायशो नृप।
यथा राज्यं च धर्मश्च भवेत्तव तथा शृणु ॥ २८ ॥

एक दूसरे को हड़पने की प्रवृत्ति वाले इस संसार में, हे राजन्, जिससे राज्य के साथ धर्म भी रहे, ऐसी बात सुनो ॥ २८ ॥

ज्ञानवृद्धाः कुले जाता न्यायज्ञाः पापभीरवः।
समेता बहवो नित्यं सन्तु ते कार्यदर्शिनः ॥ २९ ॥

परिपक्व ज्ञान वाले, कुलीन, न्याय के ज्ञाता, पाप से डरने वाले लोग मिलकर तुम्हारे कार्य को प्रतिदिन देखें ॥ २९ ॥

दण्डबन्धप्रहारादीन् कुर्युस्ते न्यायतोऽपि चेत्।
कारुण्यर्द्रः सदा भूत्वा त्वमनुग्रहवान् भव ॥ ३० ॥

वे लोग यदि उचित रूप से भी दण्ड, बन्धन और ताड़न करते रहें फिर भी तुम करुणा से द्रवित होकर सर्वदा कृपा दिखलाओ ॥ ३० ॥

हितायैव त्वया चित्तमुन्नाम्यं सर्वदेहिनाम्।
काइण्यात्सततं राजंस्तीव्रपापकृतामपि ॥ ३१ ॥

हे राजन्! कठोर पाप भी करने वालों, सभी प्राणियों पर कृपा कर हित के लिए ही तुम्हें उनके हृदय को सर्वदा ऊपर उठाना चाहिए ॥ ३१ ॥

तीव्रपापेषु हिंस्रेषु कृपा कार्या विशेषतः।
त एव हि कृपास्थानं हतात्मानो महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

कठोर पाप वाले हिंसक लोगों पर अधिक कृपा करनी चाहिए (क्योंकि) ये ही नष्ट स्वत्व व्यक्ति महात्माओं की कृपा के स्थल हैं ॥ ३२ ॥

प्रत्यहं पञ्चरात्रं वा बद्धान् क्षीणान् विमोचय ।
शेषानपि यथायोग्यं मा कांश्चित् नैव मोचय ॥ ३३ ॥

कारागार में पड़े क्षीण होते हुए (अपराधियों) को प्रत्येक दिन अथवा प्रत्येक पाँचवीं रात को छोड़ते जाओ । अवशिष्ट (अपराधियों) को भी अपेक्षाभाव से छोड़ दो ऐसा कोई भी न हो जिसे कभी न छोड़ो ॥ ३३ ॥

येष्वमोक्षणचित्तं ते जायते तेष्वसंवरः ।
तस्मादसंवरात् पापमजस्रमुपचीयते ॥ ३४ ॥

तुमको जिन्हें छोड़ने की इच्छा नहीं होती है उनके प्रति तुमको अपने ऊपर संयम का अभाव होता है । उस असंयम से बहुत अधिक पाप संचित हो जाता है ॥ ३४ ॥

यावच्च न विमुच्येरंस्तावत्स्युः सुखबन्धनाः ।
नापितस्नानपानान्न भैषज्यवसनान्विताः ॥ ३५ ॥

जब तक वे छोड़ नहीं दिये जाते हैं तब तक उन्हें नाई, स्नान, पान, अन्न, औषध और वस्त्र की पूर्त्ति होती रहनी चाहिए जिससे बन्धन में भी उन्हें सुख का अनुभव होता रहे ॥ ३५ ॥

अपात्रेष्विव पुत्रेषु पात्रकिरणकांक्षया ।
कारुण्यात्ताडनं कार्यं न द्वेषान्नार्थलिप्सया ॥ ३६ ॥

बिगड़े हुए पुत्र के समान (अपराधियों के) सुधार के लिए दया के साथ उन्हें शारीरिक यातना देनी चाहिए, द्वेष अथवा धन की इच्छा से से नहीं ॥ ३६ ॥

विमृश्य सम्यग्विज्ञाय प्रदुष्यन् घातकानपि ।
अहत्वा पीडयित्वा च कुरु निर्विषयान् नरान् ॥ ३७ ॥

सोचकर और अच्छी तरह समझकर अत्यन्त दुष्ट हत्यारों को भी बिना हत्या किए उन्हें केवल पीड़ित कर सुधारो ॥ ३७ ॥

स्वतन्त्रः पश्य सर्वं च विषयं चारचक्षुषा ।
नित्याप्रमत्तः स्मृतिमान् कुरु कार्यं च धार्मिकम् ॥३८॥

सभी विषय को गुप्तचर की आँख से देखकर भी स्वतन्त्र रूप से स्वयं देखो । आगे-पीछे देखकर स्थिर बुद्धि से सभी धार्मिक कार्य को करो ॥ ३८ ॥

प्रदानमानसत्कारैर्गुणस्थान् सततं भज ।
उदारैरनुरूपैस्तु शेषानपि यथाविधि ॥ ३९ ॥

दान, मान और सत्कार के द्वारा गुणी लोगों की आराधना करो । अनुरूप उदारता से औरों की भी यथोचित आराधना करो ॥ ३९ ॥

संमानस्फीतकुसुमः संप्रदानमहाफलः ।
राजवृक्षः क्षमाच्छायः सेव्यते भृत्यपक्षिभिः ॥ ४० ॥

सेवक रूपी पक्षी ऐसे राजा रूपी वृक्ष की सेवा करते हैं जो संमान के उज्ज्वल फूल, भरण-पोषण के महाफल और क्षमा की छाया से युक्त होता है ॥ ४० ॥

त्यागशीलमयो राजा तेजस्वी भवति प्रियः ।
शर्करामोदको यद्वदेलामरिचकर्कशः ॥ ४१ ॥

इलायची और मरीच से तीखा शक्कर का लड्डू जिस प्रकार स्वादिष्ट लगता है उसी प्रकार त्याग और शील के गुणों से युक्त तेजस्वी राजा (प्रजा को) प्रिय होता है ॥ ४१ ॥

मात्स्यन्यायश्च ते नैवं न्यायाद्राज्यं भविष्यति ।
न चान्यायो न वाधर्मो धर्मश्चैवं भविष्यति ॥ ४२ ॥

इस प्रकार के न्याय से (राज्य करने पर) तुम्हारा राज्य मात्स्य-न्याय (का उदाहरण) नहीं होगा । इसमें न अन्याय होगा और न अधर्म और इस प्रकार धर्म होगा ॥ ४२ ॥

परलोकात्त्वया राज्यं नानीतं नापि नेष्यसि ।
धर्मात् प्राप्तमतोऽस्यार्थे नाधर्मं कर्तुमर्हसि ॥ ४३ ॥

परलोक से न तो राज्य को लाए हो और न ले जाओगे। यह धर्म से प्राप्त किया गया है, अतः इसके लिए अधर्म नहीं कर सकते हो ॥ ४३ ॥

राज्येन भाण्डमूल्येन दुःखभाण्डपरम्पराम् ॥
राजन् यथा नार्जयसि प्रयत्नः क्रियतां तथा ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! ऐसी चेष्टा करो जिससे एक भाँड़े के मूल्य के राज्य से दुःखों से भरे भाँड़ों की कतारों को इकट्ठा न कर लो ॥ ४४ ॥

राज्येन भाण्डमूल्येन राज्यभाण्डपरम्पराम् ।
राजन् यथा निर्विशसि प्रयत्नः क्रियतां तथा ॥ ४५ ॥

हे राजन् ! ऐसा प्रयास करो जिससे एक भाँड़े के मूल्य के राज्य से राज्य के भाँड़ों की कतारों में निर्विशेष रूप से आसीन हो जाओ ॥४५॥

चतुर्द्वीपमपि प्राप्य पृथिवीं चक्रवर्तिनः ।
शारीरं मानसं चैव सुखद्वयमिदं मतम् ॥ ४६ ॥

चार द्वीपों से युक्त पृथिवी को प्राप्त करके भी चक्रवर्ती राजगण शारीरिक और मानसिक इन्हीं दो सुखों की प्राप्ति कर सकते हैं ॥४६॥

दुःखप्रतिक्रियामात्रं शारीरं वेदनासुखम् ।
संज्ञामयं मानसं तु केवलं कल्पनाकृतम् ॥ ४७ ॥

(परन्तु) शारीरिक अनुभव का जो सुख होता है वह दुःख का प्रतिक्रिया मात्र है और जो संज्ञामय मानसिक सुख होता है; वह तो केवल कल्पना से उत्पन्न है ॥ ४७ ॥

दुःखप्रतिक्रियामात्रं कल्पनामात्रमेव च ।
लोकस्य सुखसर्वस्वं व्यर्थमेतदतोऽर्थतः ॥ ४८ ॥

इसलिए इस संसार का सारा सुख-दुःख का प्रतिक्रियामात्र और कल्पनामात्र होने के कारण वस्तुतः व्यर्थ है ॥ ४८ ॥

द्वीपदेशपुरावासप्रदेशस्थानवाससाम् ।
शय्यान्नपानहस्त्यश्वस्त्रीणां चैकैकभोग्यता ।। ४९ ।।

द्वीप, देश, नगर, रहने योग्य भू-भाग का स्थान, घर, शय्या, अन्न, पान, हाथी, घोड़ा और स्त्री—इन सबों में से किसी एक का ही एक बार में भोग किया जा सकता है ।। ४९ ।।

यदा च यत्र चित्तं स्यात् तदानेन सुखं किल ।
शेषाणाममनस्कारात्तेषां व्यर्थत्वमर्थतः ।। ५० ।।

जब जहाँ मन रहता है तब उसके द्वारा सुख होता है । अवशिष्ट स्थलों में मन के नहीं रहने के कारण उनकी वस्तुतः व्यर्थता ही है ।। ५० ।।

विषयान् पञ्चभिः पञ्च चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः ।
न कल्पयति चेद्गृह्णन्[1] तास्मात्तेषु तदा सुखम् ।। ५१ ।।

(इसलिए) आँख आदि इन्द्रियों से पाँच प्रकार की वस्तुओं को ग्रहण करते हुए यदि कल्पना न की जाय तो उसमें सुख नहीं होगा ।। ५१ ।।

जानीते विषयं यं यं येन येनेन्द्रियेण च ।
तदा न शेषैः शेषाणि व्यर्थान्येव यतस्तथा[2] ।। ५२ ।।

जब जिस-जिस विषय को जिस-जिस इन्द्रिय के कोई जानता है तब अवशिष्ट विषयों को अवशिष्ट इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानने के कारण उसके लिए वे व्यर्थ ही रहते हैं ।। ५२ ।।

इन्द्रियैरुपलब्धस्य विषयस्याकृतिं मनः ।
उपलभ्य व्यतीतस्य कल्पयन् मन्यते सुखम् ।। ५३ ।।

इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त विषय की आकृति ही मन है । प्राप्त करने के बाद जो बीत जाता है उसकी कल्पना कर कोई सुख मानता है ।। ५३ ।।

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'चेद्गह्णन्' पाठ है ।

२. मि० वि० पी० संस्करण में 'तदा' छपा है ।

एकमर्थं विजानाति यद्यप्येकमिहेन्द्रियम् ।
तदप्यर्थं विना व्यर्थं व्यर्थोऽर्थोऽपि च तद्विना ॥ ५४ ॥

यद्यपि इस संसार में एक इन्द्रिय एक ही विषय को जानती है किन्तु वह इन्द्रिय अपने विषय के बिना व्यर्थ है और वह विषय भी इन्द्रिय के बिना व्यर्थ है ॥ ५४ ॥

प्रतीत्य मातापितरौ यथोक्तः पुत्रसंभवः ।
चक्षूरूपे प्रतीत्यैवमुक्तो विज्ञानसंभवः ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार माता-पिता की अपेक्षा से पुत्र की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार आँख और रूप की अपेक्षा से विज्ञान की उत्पत्ति कही गई है ॥ ५५ ॥

अतीतानागता व्यर्था विषयाः सार्धमिन्द्रियैः ।
तद्द्वयानतिरिक्तत्वाद् व्यर्था येऽपि च सांप्रताः ॥ ५६ ॥

भूत और भविष्य के विषय अपनी इन्द्रियों के साथ व्यर्थ हैं । उन दोनों से अपृथक् होने के कारण जो विद्यमान हैं, वे भी व्यर्थ हैं ॥५६॥

अलातचक्रं गृह्णाति यथाचक्षुर्विपर्ययात् ।
तथेन्द्रियाणि गृह्णन्ति विषयान् सांप्रतानिव ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार भ्रम के कारण आँख अलातचक्र को देखती है उसी प्रकार इन्द्रियाँ विषयों को विद्यमान-जैसा ग्रहण करती हैं ॥ ५७ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च पञ्चभूतमया मताः ।
प्रतिस्वं भूतवैयर्थ्यादेषां व्यर्थत्वमर्थतः ॥ ५८ ॥

इन्द्रियाँ और उनके विषय पञ्चभूत निर्मित कहे गये हैं । भौतिक पदार्थों की एक-एक कर व्यर्थता के कारण वे सभी वस्तुतः व्यर्थ हैं ॥ ५८ ॥

निरिन्धनोऽग्निर्भूतानां विनिर्भागे प्रसज्यते ।
संपर्के लक्षणाभावः शेषेऽप्यप्येष निर्णयः ॥ ५९ ॥

यदि जलावन से पृथक् आग हो तो यह विचार भौतिक पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता को मानने में प्रसक्त होगा (अर्थात् तब यह मानना पड़ेगा

कि जलावन से निरपेक्ष आग की सत्ता है ।) यदि जलावन से सहकृत रूप में आग की सत्ता को माना जाय तो स्वतन्त्र रूप की आग का लक्षण ही नहीं घटित होगा । इसी प्रकार का निर्णय अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए ॥ ५९ ॥

एवं द्विधापि भूतानां व्यर्थत्वात्संगतिर्वृथा ।
व्यर्थत्वात्संगतेश्चैवं रूपं व्यर्थमतोऽर्थतः ॥ ६० ॥

इस प्रकार दोनों तरह से भौतिक पदार्थों की व्यर्थता के कारण उनकी संगति निरर्थक है । अतः संगति की निरर्थकता के कारण रूप भी वस्तुतः व्यर्थ है ॥ ६० ॥

विज्ञानवेदना संज्ञा संस्काराणां च सर्वशः ।
प्रत्येकमात्मवैयर्थ्याद्वैयर्थ्यं परमार्थतः ॥ ६१ ॥

विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कारों में से प्रत्येक की हर प्रकार से निरर्थकता के कारण वे पारमार्थिक दृष्टि से व्यर्थ हैं ॥ ६१ ॥

सुखाभिमानो दुःखस्य प्रतीकारे यथार्थतः ।
तथा दुःखाभिमानोऽपि[1] सुखस्य प्रतिघातजः ॥ ६२ ॥

दुःख के यथार्थ रूप में प्रतिकार होने पर सुख का अनुभव होता है । उसी प्रकार सुख के पराभव से दुःख उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

सुखे संयोगतृष्णैवं नैःस्वाभाव्यात्प्रहीयते ।
दुःखे वियोगतृष्णा च पश्यतां मुक्तिरित्यतः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार सुख में संयोग की तृष्णा और दुःख में वियोग की तृष्णा निःस्वभावता के कारण नष्ट हो जाती है । इसलिए इसको समझने वालों की मुक्ति होती है ॥ ६३ ॥

कः पश्यतीति चेच्चित्तं व्यवहारेण कथ्यते ।
नहि चैत्तं विना चित्तं व्यर्थत्वान्न सहेष्यते ॥ ६४ ॥

यदि यह प्रश्न हो कि चित्त को कौन जानता है तो हम कहेंगे यह

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'सुखाभिमानोऽपि' छपा है ।

व्यवहार से समझा जाता है (अर्थात् यह व्यावहारिक प्रयोग को छोड़कर और कुछ नहीं है)। चित्त और चैत्त (=विज्ञान के अतिरिक्त सारे स्कन्ध) एक दूसरे के विना सम्भव नहीं हैं और दोनों के सहभाव को मानने से उनकी व्यर्थता सिद्ध होती है ॥ ६४ ॥

व्यर्थमेवं जगन्मत्वा याथाभूत्यान्निरास्पदः ।
निर्वाति निरुपादानो निरुपादानवह्निवत् ॥ ६५ ॥

अपने वास्तविक रूप में निरुपादान अग्नि के समान आश्रयहीन उपादानहीन और विना किसी के द्वारा बनाए जाने के कारण संसार को व्यर्थ मानकर ॥ ६५ ॥

बोधिसत्त्वोऽपि दृष्ट्वैवं संबोधौ नियतो मतः ।
केवलं त्वस्य कारुण्यादाबोधेर्भवसंततिः ॥ ६६ ॥

सम्यक् बोधि प्राप्ति के अनन्तर बोधिसत्त्व भी इसी निश्चय विचार के अनुसार संसार के प्रति करुणा से ज्ञान प्राप्ति के पहले तक ही इसकी सत्ता को मानते हैं ॥ ६६ ॥

बोधिसत्त्वस्य संभारो महायाने तथागतैः ।
निर्दिष्टः स तु संमूढ़ैः प्रद्विष्टश्चैव निन्द्यते ॥ ६७ ॥

महायान में तथागतों द्वारा बोधिसत्त्व के कर्त्तव्य निश्चित कर दिए गये हैं किन्तु मूर्ख लोग द्वेष से उसकी निन्दा करते हैं ॥ ६७ ॥

गुणदोषानभिज्ञो वा दोषसंज्ञी गुणेषु वा ।
अथवापि गुणद्वेषी महायानस्य निन्दकः ॥ ६८ ॥

महायान का निन्दक वह होता है जो गुण और दोष से अपरिचित है अथवा गुणों को दोष समझता है अथवा गुण से द्वेष करता है ॥६८॥

परोपघातिनो दोषान् परानुग्राहिणो गुणान् ।
ज्ञात्वोच्यते गुणद्वेषी महायानस्य निन्दकः ॥ ६९ ॥

दूसरे के अपकार करने वाले के दोषों को और दूसरे पर कृपा

करने वाले के गुणों को जानकर ऐसा कहा गया है कि गुण से द्वेष करने वाला महायान का निन्दक होता है ।। ६९ ।।

यत्स्वार्थनिरपेक्षत्वात् परार्थैकरसप्रियम् ।
गुणाकरं महायानं तद्द्वेषी तेन दह्यते ।। ७० ।।

जिस गुण के स्थान महायान को स्वार्थ निरपेक्षता के कारण पदार्थ ही एकमात्र प्रिय रस है उससे द्वेष करने वाला उसी से दग्ध हो जाता है ।। ७७ ।।

श्राद्धोऽपि दुर्गृहीतेन द्विष्यात् क्रुद्धोऽथ वेतरः ।
श्राद्धोऽपि दग्ध इत्युक्तः का चिन्ता द्वेषबन्धुरे ।। ७१ ।।

श्रद्धावान् व्यक्ति भी दुष्प्रभाव में आकर द्वेष कर सकता है अथवा अन्य कोई क्रोध कर सकता है। कहा गया है कि श्रद्धावान् व्यक्ति भी उससे दग्ध होता है, (फिर) द्वेष से बहरे की चिन्ता ही क्या ।।७१।।

विषेणापि विषं हन्याद्यथैवोक्तं चिकित्सकैः ।
दुःखेनाप्यहितं हन्यादित्युक्ते किं विरुध्यते ।। ७२ ।।

जिस प्रकार चिकित्सकों ने कहा है कि विष के द्वारा भी विष का नाश करना चाहिए उसी प्रकार इस उक्ति का क्या विरोध है कि दुःख से भी अहित का नाश करना चाहिए ।। ७२ ।।

मनः पूर्वंगमा धर्मा मनःश्रेष्ठा इति श्रुतेः ।
हितं हितमनाः कुर्वन् दुःखेनाप्यहितं कथम् ।। ७३ ।।

'सभी वस्तुएँ मन-पूर्वक हुआ करती हैं अतः मन ही सर्वश्रेष्ठ है' इस श्रुति (के आधार) से हितकामनापूर्वक दुःख सहकर भी हित करता हुआ अहित कैसे हो सकता है ? ।। ७३ ।।

दुःखमप्यायती पथ्यं कार्यं किमु सुखं हितम् ।
आत्मनश्च परेषां च धर्म एष सनातनः ।। ७४ ।।

दुःख भी फलदान के समय में उपकारक होता है; फिर जो कार्य सुख और हितकारी है उसका क्या कहना ? अपने और दूसरों के लिए यह सनातन धर्म है ।। ७४ ।।

मात्रा सुखपरित्यागात् पश्चाच्चेद्विपुलं सुखम् ।
त्यजेन्मात्रासुखं धीरः संपश्यन् विपुलं सुखम् ॥ ७५ ॥

थोड़े सुख को छोड़ने से पीछे यदि बहुत सुख होता हो तो धैर्यवान् पुरुष को बहुत सुख को देखते हुए थोड़े से सुख को छोड़ देना चाहिए ॥ ७५ ॥

न मृश्यते च यद्येतत् कटुभैषज्यदायिनः ।
ततश्चिकित्सकाद्याश्च हता नैवं च युज्यते ॥ ७६ ॥

यदि इसके लिए प्रयत्न नहीं किया जाय तो तीखे औषध देने वाले वैद्य आदि व्यर्थ हो जायँ। किन्तु ऐसा तो नहीं हो सकता है ॥ ७६ ॥

अपथ्यमपि यद्दृष्टं तत्पथ्यं पण्डितैः क्वचित् ।
उत्सर्गश्चापवादश्च सर्वशास्त्रेषु शस्यते ॥ ७७ ॥

कहीं-कहीं पण्डितों द्वारा अहित का भी जो हित के लिए निर्दिष्ट किया गया है (वह असंगत नहीं है क्योंकि) सभी शास्त्र में सामान्य विधान और अपवाद के नियम बतलाए गये हैं ॥ ७७ ॥

करुणापूर्वकाः सर्वे निष्यन्दा ज्ञाननिर्मलाः ।
उक्ता यत्र महायाने कस्तन्निन्देत्सचेतनः ॥ ७८ ॥

जिस महायान में करुणा से किए गये सारे कार्य ज्ञान से स्वच्छ होकर निर्गत कहे गये हैं उसकी निन्दा कौन विचारशील व्यक्ति कर सकता है ? ॥ ७८ ॥

अत्यौदार्यातिगाम्भीर्याद्विषण्णैरकृतात्मभिः ।
निन्द्यतेऽद्य महायानं मोहात् स्वपरवैरिभिः ॥ ७९ ॥

(महायान की) अत्यन्त उदारता और अत्यन्त गम्भीरता से उदास अपने और दूसरे असफल प्रतिपक्षियों द्वारा आज अज्ञानवश उसकी निन्दा की जा रही है ॥ ७९ ॥

दानशीलक्षमावीर्यध्यानप्रज्ञाकृपात्मकम् ।
महायानमतस्तस्मिन् कस्माद् दुर्भाषितं वचः ॥ ८० ॥

महायान (तो) दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा और कृपा से युक्त है। इसलिए उसमें बुराई की बात कहाँ से कही जा सकती है ? ॥ ८० ॥

परार्थो दानशीलाभ्यां क्षान्त्या वीर्येण चात्मनः।
ध्यानं प्रज्ञा च मोक्षाय महायानार्थसंग्रहः ॥ ८१ ॥

दान, शील, क्षमा और वीर्य के द्वारा दूसरे के मोक्ष के लिए (प्रयत्न करना) और अपने मोक्ष के लिए ध्यान एवं प्रज्ञा (की उपलब्धि)—यही महायान का सम्पूर्ण विषय है ॥ ८१ ॥

परात्महितमोक्षार्थाः संक्षेपाद् बुद्धशासनम्।
ते षट्पारमितागर्भास्तस्माद् बौद्धमिदं वचः ॥ ८२ ॥

संक्षेप में बौद्ध अनुशासन के विषय हैं अपने और दूसरों के लिए मोक्ष की प्राप्ति के उपाय। वे छः पारमिताओं से युक्त हैं। इसलिए इसे बुद्ध का वचन कहा गया है ॥ ८२ ॥

पुण्यज्ञानमयो यत्र बुद्धैर्बोधेर्महापथः।
देशितस्तन्महायानमज्ञानाद्वै न दृश्यते ॥ ८३ ॥

बुद्ध द्वारा जिसमें बोधि के लिए पुण्य और ज्ञान से युक्त महान् मार्ग का उपदेश दिया गया उसे महायान कहते हैं। किन्तु अज्ञान के कारण यह नहीं समझा जा रहा है ॥ ८३ ॥

खमिवाचिन्त्यगुणत्वादुक्तोऽचिन्त्यगुणो जिनः।
महायाने यतो बुद्धमहात्म्यं क्षम्यतामिदम् ॥ ८४ ॥

आकाश के समान अचिन्त्यगुण होने के कारण महायान में बुद्ध को अचिन्त्यगुण कहा गया है। इसलिए बुद्धमाहात्म्य भी चिन्तन के परे है। इसके लिए क्षमा करें ॥ ८४ ॥

आर्यशारद्वतस्यापि शीलमात्रेऽप्यगोचरः।
यस्मात् तद्बुद्धमाहात्म्यमचिन्त्यं किं न मृष्यते ॥ ८५ ॥

जिसके कारण बुद्धमाहात्म्य आर्यशारद्वत के भी शील तक में गोचर

नहीं हुआ उसे अचिन्त्य (=चिन्तन के परे) समझने के लिए क्यों नहीं क्षमा किया जाता है ? ।। ८५ ।।

अनुत्पादो महायाने परेषां शून्यता क्षयः ।
क्षयानुत्पादयोश्चैक्यमर्थतः क्षम्यतां यतः ।। ८६ ।।

महायान में सापेक्ष वस्तुओं की शून्यता अनुत्पाद और क्षय नामों से जानी गई है, क्योंकि अनुत्पाद और क्षय में वस्तुतः समानार्थकता है । इसके लिए क्षमा करें ।। ८६ ।।

शून्यताबुद्धमाहात्म्यमेवं युक्त्यानुपश्यताम् ।
महायानेतरोक्तानि न समेयुः कथं सताम् ।। ८७ ।।

शून्यता ही बुद्धमाहात्म्य है—इसको युक्ति से समझते हुए सज्जनों के लिए महायान के अतिरिक्त की उक्तियाँ संगत क्यों नहीं होंगी ? ।। ८७ ।।

तथागताभिसंध्योक्तान्यसुखं ज्ञातुमित्यतः ।
एकयानत्रियानोक्तादात्मा रक्ष्य उपेक्षया ।। ८८ ।।

तथागत द्वारा लक्षित उक्तियों को जानना कठिन है इसलिए एकयान और त्रियान (का आविष्कार किया गया । उन) में जो बातें कही गई हैं उनके प्रति उपेक्षा के द्वारा अपनी रक्षा करनी चाहिए ।। ८८ ।।

उपेक्षया हि नापुण्यं, द्वेषात्पापं कुतः शुभम् ।
महायाने यतो द्वेषो नात्मकामैः कृतोऽर्हति ।। ८९ ।।

उपेक्षा से अधर्म नहीं होता है, किन्तु द्वेष से तो पाप होता है, शुभ कहाँ से होगा । इस कारण से महायान में सन्तुष्ट व्यक्ति द्वारा द्वेष किया नहीं जा सकता है ।। ८९ ।।

न बोधिसत्त्वप्रणिधिर्न चर्या परिणामना ।
उक्ताः श्रावकयानेऽस्माद् बोधिसत्त्वः कुतस्ततः ।। ९० ।।

श्रावक (=हीन) यान में न तो बोधिसत्त्व की धार्मिक प्रतिज्ञा और आचार के नियमन की बात की गई है, तो फिर उससे बोधिसत्त्व कैसे होंगे ? ।। ९० ।।

अधिष्ठानानि नोक्तानि बोधिसत्त्वस्य बोधये ।
बुद्धैरन्यत्प्रमाणं च कोऽस्मिन्नर्थे जिनाधिकः ॥ ९१ ॥

इसमें बोधिसत्व को बोधि के लिए न तो अधिष्ठान कहे गये हैं और न बुद्धों द्वारा कहा गया अन्य प्रमाण ही निरूपित हुआ है (यद्यपि) इस विषय में बुद्ध से बढ़कर और कौन हो सकता है ? ॥ ९१ ॥

अधिष्ठानार्थसत्यार्थबोधिपक्षोपसंहितात् ।
मार्गाच्छ्रा[1]वक सामान्याद् बौद्धं केनाधिकं फलम् ॥९२॥

अधिष्ठान, आर्यसत्य के अर्थ और ज्ञानपक्ष से मिश्रित सामान्य श्रावक मार्ग से अधिक और किस मार्ग से बुद्धनिर्दिष्ट फल हो सकता है ? ॥ ९२ ॥

बोधिचर्या-प्रतिष्ठार्थं न सूत्रे भाषितं वचः ।
भाषितं च महायाने ग्राह्यमस्माद्विचक्षणैः ॥ ९३ ॥

बोधिचर्या की प्रतिष्ठा के लिए सूत्र में कोई बात नहीं कही गई। महायान में वह बात कही गई है अतः पण्डितों द्वारा ग्रहण करने योग्य है ॥ ९३ ॥

यथैव वैयाकरणो मातृकामपि पाठयेत् ।
बुद्धोऽवदत्तथा धर्मं विनेयानां यथाक्षमम् ॥ ९४ ॥

जिस प्रकार वैयाकरण को अक्षर भी पढ़ाना चाहिए उसी प्रकार बुद्ध ने शिष्यों के अधिकार के अनुकूल धर्म को कहा ॥ ९४ ॥

केषांचिदवदद्धर्मं पापेभ्यो विनिवृत्तये ।
केषांचित्पुण्यसिद्ध्यर्थं केषांचिद् द्वयनिश्रितम् ॥ ९५ ॥

किन्हीं को पाप से हटाने के लिए, किन्हीं को पुण्य की सिद्धि के लिए तो किन्हीं को द्वैत के आश्रय के लिए धर्म को कहा ॥ ९५ ॥

द्वयानिश्रितमेकेषां गम्भीरं भीरुभीषणम् ।
शून्यताकरुणागर्भमेकेषां बोधिसाधनम् ॥ ९६ ॥

---

१. मि० वि० पी० संस्करण में 'मार्गाच्छावक……' छपा है।

किन्हीं मुख्य (शिष्यों) को कायरों के लिए भयंकर किन्तु गम्भीर द्वैध के अनालम्बन को तो किन्हीं मुख्य (शिष्यों) को शून्यता और करुणागर्भित उपायों को बोधि का साधन बतलाया ॥ ९६ ॥

इति सद्भिर्महायाने कर्त्तव्यः प्रतिघक्षयः ।
प्रसादश्चाधिकः कार्यः सम्यक्संबोधिसिद्धये ॥ ९७ ॥

यह जानकर सज्जनों को महायान के प्रति प्रतिघात को नष्ट करना चाहिए और सम्यक् ज्ञान की सिद्धि के लिए (महायान में) अधिक प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए ॥ ९७ ॥

महायानप्रसादेन तदुक्ताचरणेन च ।
प्राप्यतेऽनुत्तरा बोधिः सर्वसौख्यानि चान्तरा ॥ ९८ ॥

महायान के प्रसाद से और उसके कथन के अनुसार आचरण करने से पारमार्थिक ज्ञान की और इसके बाद सब प्रकार के सुख की उपलब्धि होती है ॥ ९८ ॥

दानं शीलं क्षमा सत्यं गृहस्थस्य विशेषतः ।
धर्म उक्तः कृपागर्भः स सात्मीक्रियतां दृढ़म् ॥ ९९ ॥

दान, शील, क्षमा और सत्य को विशेष कर गृहस्थ के लिए धर्म कहा गया है। इस धर्म को दया से सम्बलित कर दृढ़तापूर्वक अपनाओ ॥ ९९ ॥

अथ लोकस्य वैधर्म्याद्राज्यं धर्मेण दुष्करम् ।
ततो धर्मयशोर्थं ते प्रव्रज्याधिगमः क्षमः ॥ १०० ॥

इसके अनन्तर लोगों के साधारणतः धर्मपराङ्मुखतावश धर्म के द्वारा कठिनता से शासित होने वाला राज्य तुम्हारे धर्म और यश के लिए होगा और तब अधिकारी होकर तुम्हें प्रव्रज्या का ग्रहण करना चाहिए ॥ १०० ॥

(रत्नावली में राजवृत्तोपदेश नाम का चौथा परिच्छेद)

रत्नावली

कारिकासूची

कारिका | पृष्ठ

अ

कारिका	पृष्ठ

कारिका	पृष्ठ

कारिका	पृष्ठ:

■

